मनोनुशासनम्

आचार्य तुलसी

भूमिका

आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ, तव उसके विकास की दृष्टि भी प्राप्त हुई। विकास के साधनो का अन्वेषण किया गया। एक शब्द मे उसे मोक्ष-मार्ग या योग कहा गया।

मोक्ष-मर्ग्ग या योग कोई पारलौकिक ही नही है, वर्तमान जीवन मे भी जितनी शान्ति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है, वह सब मोक्ष है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार—'जिसने अहकार और वासनाओ पर विजय प्राप्त कर ली, मन, वाणी और शरीर के विकारो को धो डाला, जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओ के लिए यही मोक्ष है।'[1]

आत्मा की सहजता ही मोक्ष है। वह पूर्ण होती है तो मोक्ष पूर्ण होता है, वह अपूर्ण होती है, तो मोक्ष अपूर्ण होता है। वर्तमान जीवन मे मोक्ष नही होता, वह अगले जीवन में ही होता है—ऐसा नही होता।

इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष-मार्ग है। वह अनुशासन से प्राप्त होता है। वल-प्रयोग से वे वशवर्ती नही किए जा सकते। हठ से उन्हें नियंत्रित करने का यत्न करने पर वे कुण्ठित बन जाते है। उनकी शक्ति विकसित तभी हो सकती है, जब वे प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित किए जाए।

स्वाध्याय और ध्यान उनके प्रशिक्षण के प्रमुख साधन है। स्वाध्याय इस युग का प्रधान तत्त्व है और ध्यान विलुप्त तत्त्व। स्वाध्याय भी जितना वुद्धि को विकसित करने का साधन है उतना मन को अनुशासित करने

---

१ प्रशमरति, २३०
निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम् ॥

का नही है।

अणु-अस्त्रो के इस युग मे मानसिक सतुलन बहुत ही अपेक्षित है। आज कुछेक व्यक्तियो का थोडा-सा मानसिक असतुलन बहुत बडे अनिष्ट का निमित्त बन सकता है।

मानसिक सतुलन के अभाव मे व्यक्ति का जीवन दूभर बन जाता है। सब सयोगो मे भी एक विचित्र खालीपन की अनुभूति होती है। अनेक व्यक्ति पूछते है—शान्ति कैसे मिले ? मन स्थिर कैसे हो ? मै उन्हे यथोचित समाधान देता। ये प्रश्न कुछेक व्यक्तियो के ही नही है। ये व्यापक प्रश्न है। इसलिए इनका समाधान भी व्यापक स्तर पर होना चाहिए। 'मनोनुशासनम्' के निर्माण का यही प्रयोजन है। प्राचीन भाषा मे जो योग है, उसकी एक रेखा आज की भाषा मे मनोविज्ञान है। मानसिक विकास दोनो मे अपेक्षित है। मन को केन्द्रित किए बिना उसका विकास नही हो सकता। योगशास्त्र मानसिक विकास को अतीन्द्रिय ज्ञान की भूमिका तक ले जाते है। बुद्धि और मन से परे जो चेतना है, वही वस्तुत: अध्यात्म है। वहा पहुंचने पर ही व्यक्ति को सहजानन्द की अनुभूति होती है। वह स्थिति मानसिक विकास के बाद ही प्राप्त होती है।

मन को अनुशासित करना जितना एक जैन के लिए उपयोगी है, उतना ही एक अजैन के लिए भी उपयोगी है। यह मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। यह अणुव्रत-आन्दोलन की भाति सबके लिए है। अध्यात्म अमुक-अमुक के लिए नही, किन्तु प्रत्येक आत्मा के लिए है।

मनुष्य मे अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द और अनन्त चैतन्य होता है। किन्तु मन को अनुशासित करने का मार्ग नही जानता इसलिए वह अपने आपको कभी निर्बल, कभी दु खी और कभी अज्ञानी अनुभव करता है। इसी अवस्था को मै धनवान् की गरीबी कहता हू।

आज का युग नवजागरण का युग है। सबका जागरण हो रहा है, तब मन भी जागृत होना चाहिए। सब जाग जाए और मन सो जाए—यह वाछनीय नही है। वाछनीय यह है कि जागरण से पूर्व मन जग जाए।

सहज अनुशासित मन ही जागृत मन है। आज के मानव को उसकी प्रक्रिया की अपेक्षा है। उसी प्रक्रिया का दिग्दर्शन 'मनोनुशासनम्' मे कराया गया है। इसकी भाषा मैने सस्कृत इसलिए रखी कि सस्कृत मे थोडे में

जितना अधिक कहा जा सकता है, उतना दूसरी भाषा मे कहना कठिन है। इसकी सूत्रबद्ध शैली के पीछे भी यही सक्षेपीकरण का दृष्टिकोण रहा है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने इसकी विस्तृत व्याख्या लिखकर तथा इसे अपनी अनुभूति से आप्लावित कर बाल, युवा और वृद्ध—सब लोगों के लिए अधिक उपयोगी बना दिया है। बृहद् व्याख्या के बिना केवल सूत्र इतने जनोपयोगी नहीं हो सकते थे। मेरी प्रेरणा को उन्होने मूर्त रूप दिया है। योग में उनकी सहज गति है। ज्ञान के अभ्यासी होने के कारण उनकी भाषा मे बेधकता है। दर्शन के अभ्यासी होने के कारण दार्शनिक तत्त्वों को भी उन्होने सहजगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। व्याख्या सहित 'मनोनुशासनम्' योग मे रुचि रखने वाले लोगो के हाथो मे प्रस्तुत है। हमारे धर्म-सघ मे तो इसका अधिक उपयोग होगा ही पर प्रत्येक जिज्ञासु मनुष्य इससे लाभान्वित होगा।

—आचार्य तुलसी

अणुव्रतनगर
मोतीबाग, रायपुर (म. प्र.)
२१ जुलाई, १६७०

आमुख

प्रत्येक धर्म का अपना स्वतत्र साध्य होता है और उसकी सिद्धि के लिए उसी के अनुकूल साधना-पद्धति होती है। महर्षि पतंजलि ने साख्यदर्शन की साधना-पद्धति को व्यवस्थित रूप दिया और योग नाम से एक स्वतत्र साधना-पद्धति विकसित हो गई। अब हर साधना-पद्धति योग नाम से अभिहित होती है। योग स्वयंसिद्ध नाम है। दूसरे धर्मो की साधना-पद्धति की जैन योग, बौद्ध योग—इस प्रकार पहचान की जाती है। किन्तु जैनो और बौद्धो की साधना-पद्धति की स्वतत्र संज्ञा है। जैनो की साधना-पद्धति को मोक्षमार्ग और बौद्धो की साधना-पद्धति को विशुद्धिमार्ग कहा जाता है।

उपनिषद्-साहित्य मे षडग योग का उल्लेख मिलता है[1]—प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि।

पातजल योगदर्शन मे अष्टाग योग का उल्लेख है[2]—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

बौद्ध साधना-पद्धति मे आर्य अष्टागिक मार्ग का उल्लेख है[3]—सम्यगूदृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाणी, सम्यग्कर्म, सम्यग्आजीविका, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि।

मोक्षमार्ग चतुरग है[4]—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

---

१ मैत्रायणी उपनिषद्, ६/१८
प्राणायाम· प्रत्याहारो ध्यान धारणा तर्कः समाधि षडग इत्युच्यते योग ।

२ पातजल योग-दर्शन, २/२९
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि।

३. सयुक्तनिकाय, ५/१०

४ उत्तराध्ययन, २८/२

ज्ञान से सत्य ज्ञात होता है। दर्शन से वह स्थिर होता है। चरित्र से असत्य का सम्पर्क विच्छिन्न होता है और तप से असत्य के सचित सस्कार क्षीण होते है।

चारो के समवाय से आत्मा असत्य से विच्छिन्न होकर अपने सत्य स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है।

साधना की समग्र पद्धति जिस मन्दिर की परिक्रमा करती है, उसका देवता है—मन। उसकी सिद्धि सवकी सिद्धि और उसकी असिद्धि सवकी असिद्धि होती है।

केशी स्वामी ने गौतम से पूछा—तुम शत्रुओ पर विजय कैसे प्राप्त करते हो ?

गौतम ने कहा—भते । मै एक पर विजय प्राप्त करता हू। उससे चार स्वय विजित हो जाते है। उनके विजित होने पर पाच और विजित होते है। इस प्रकार दस पर विजय प्राप्त कर लेता हू। इसका अर्थ यह होता है कि मै सव शत्रुओ पर विजय पा लेता हू।

केशी ने फिर पूछा—तुम शत्रु किसे समझते हो ?

गौतम ने कहा—आत्मा, कपाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—और पचेन्द्रिय, ये दस शत्रु है। मै इन पर विजय प्राप्त कर सुख से विचरता हू।

यहा आत्मा का अर्थ मन है। इसे जीते विना कषाय और इन्द्रिय पर विजय प्राप्त नही हो सकती। इसलिए 'मनोनुशासनम्' की अपने आप मे सार्थकता है।

मन को अनुशासित करने के लिए शरीर, श्वास आदि को अनुशासित करना भी आवश्यक होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे मन तथा उसके लिए अन्य जितने भी अनुशासनीय है, उन सवके अनुशासन की प्रक्रिया निरूपित की गई है।

आचार्यश्री तुलसी महान् प्रेरणा-स्रोत है। वे स्वय प्रकाशित और पर-प्रकाशी है। उन्होने समय-समय पर ज्योति विकीर्ण की है।

तत्त्वज्ञान की अपेक्षा थी, तब आचार्यवर ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की रचना की। वह तत्त्वजिज्ञासु व्यक्तियो के लिए वहुत ही प्रेरक वनी।

दृष्टि-परिष्कार के लिए आचार्यवर ने 'भिक्षुन्यायकर्णिका' की रचना की। न्यायशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए वह बहुत ही लाभप्रद हुई।

व्यवहार-परिष्कार के लिए आचार्यश्री ने 'पंचसूत्रम्' का प्रणयन किया है। वैचारिक परिपक्वता और अनुशासित जीवन-पद्धति की उपलब्धि के लिए उसका अपना विशिष्ट मूल्य है।

आज सर्वाधिक अपेक्षा मन को अनुशासित करने की है। उसकी पूर्ति के लिए आचार्यश्री ने 'मुनोनुशासनम्' का प्रणयन किया है। यह आकार मे लघु है पर प्रकार मे गुरु। इसमे योगशास्त्र की सर्वसाधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताए नही है। किन्तु जो है, वह अनुभवयोग्य और वहुजनसाध्य है। इस मानसिक शिथिलता के युग मे मन को प्रवल बनाने की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने मानव-जाति को वहुत ही उपकृत किया है। हमारी आशसा है कि युग-युग तक हमे इस महान् ज्योति से ज्योति की रेखाए प्राप्त हो।

'मनोनुशासनम्' का सक्षिप्त अनुवाद आचार्यवर के धवल समारोह के पुण्य पर्व (वि० स० २०१८) पर प्रकाशित हो चुका था किन्तु उससे पाठक की दृष्टि स्पष्ट नही हो रही थी। अनेक लोगो की यह भावना थी कि इसे कुछ विस्तार से लिखा जाए। इस अपेक्षा को मै स्वयं भी अनुभव करता था। आचार्यश्री भी इस ओर इगित कर चुके थे किन्तु प्राप्त कार्यो की पूर्णता न होने तक यह कार्य निष्पन्न नही हो सका। आचार्यश्री ने इस कार्य के लिए समय की विशेष व्यवस्था की और यह कार्य सम्पन्न हो गया।

इस कार्य मे मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही' मेरे सहयोगी रहे है। मै लिखाता गया और वे लिखते गए। मै वोला हू, इतना कार्य मेरा है, शेप सव कार्य उन्होने किया है। यदि ऐसा नही होता तो अन्य कार्यो की व्यस्तता मे इसका निर्माण सभव नहीं था।

मनोनुशासनम् की रचना के पश्चात् प्रेक्षाध्यान की पद्धति का निर्धारण किया गया। उसके प्रयोग चल रहे है। किन्तु ध्यान का विशिष्ट विकास चाहने वालो के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ और इसके परिशिष्ट अत्यधिक मननीय और अनुशीलनीय है।

आचार्यश्री का अपना ग्रन्थ अपनी ही आलोक-रेखा से अलोकित हो, यह उनके और मेरे—दोनो के लिए आनन्द का प्रसग है।

अणुव्रतनगर
मोतीबाग, रायपुर (म. प्र.)
२१ जुलाई, १६७०

मुनि नथमल
(आचार्य महाप्रज्ञ)

अनुक्रम

पांचवां प्रकरण १२२–१३१

सातवां प्रकरण १५१–१५५

परिशिष्ट-१

परिशिष्ट-२

परिशिष्ट-३

परिशिष्ट-४

परिशिष्ट-५

परिशिष्ट-६

पहला प्रकरण

१. अथ मनोनुशासनम् ॥

१. इस ग्रथ मे मन को अनुशासित करने की पद्धति वतलाई गई है अत· इसका नाम मनोनुशासनम् है।

ध्येयनिष्ठा

जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—मुक्ति। वन्धन किसी भी व्यक्ति को प्रिय नही है। जिसमे चेतना का किंचित् भी विकास है, उसमे मुमुक्षा है और वह इतनी अपरिहार्य है कि उसे मिटाया नही जा सकता। इसीलिए यह कहना सर्वथा सगत है कि मुक्ति जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। जिसके ध्येय और प्रवृत्ति मे विसगति होती है, वह ध्येय के निकट नहीं पहुच पाता। जैसे-जैसे ध्येय और प्रवृत्ति की विसगति मिटती जाती है, वैसे-वैसे ध्येय सधता जाता है।

एक व्यक्ति का ध्येय है मुक्ति और वह खाता है शरीर की पुष्टि के लिए, सुनता है कान की तृप्ति के लिए और देखता है आख की तृप्ति के लिए। यह ध्येय की विसगति है। जव हमारा ध्येय अनेक रूपो मे वंट जाता है, तव हम मूल को नही सीच पाते। शाखाओ, पत्तो और फूलों को सीचने का अर्थ होता है उनका सूख जाना। मूल सीचा जाता है तो शाखाएं, पत्र और पुष्प अपने आप अभिषिक्त हो जाते है। यह ध्येय की सगति है। मूल को छोडकर शेप अवयवो को सीचना ध्येय की विसंगति है। खाना शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है। सुनना और देखना इन्द्रियो की अनिवार्यता है। कान के पर्दे और आख के गोलक को फोड़ा नही जा सकता। कोई भी आदमी निरन्तर कान मे रूई और आख पर पट्टी वाधकर वैठ नही सकता। जिसे आख प्राप्त है,

वह देखता है और जिसे कान प्राप्त है, वह सुनता है। देखना और सुनना अपने-आप मे अच्छा भी नही है और बुरा भी नही है। उसमे अच्छाई और बुराई ध्येय के आधार पर फलित होती है। हम मुक्ति के लिए देखे, मुक्ति के लिए सुने, मुक्ति के लिए खाए और मुक्ति के लिए जिए तो हमारा जीना भी साधना है, खाना भी साधना है, देखना और सुनना भी साधना है।

आचार्य हरिभद्र ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इन शब्दो मे की है—'मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो'—वह सारा धार्मिक व्यापार योग है जो व्यक्ति को मुक्ति से जोडता है। योग वही है जो मुक्ति के लिए है और मुक्ति से जुडा हुआ है। वन्धन के लिए या बन्धन से जोड़ने वाली कोई भी प्रवृत्ति न धार्मिक हो सकती है और न यौगिक।

भगवान् महावीर ने कहा है—सयम से चलो, सयम से खडे रहो, सयम से बैठो, सयम से सोओ, सयम से खाओ और सयम से बोलो, फिर पाप-कर्म का बन्धन नही होगा। बन्धन वही है जहा सयम नही है और मुक्ति का ध्येय निष्ठित हुए बिना जीवन मे सयम आता नही। मुक्ति हमारे जीवन का ध्येय है और सयम ध्येय-पूर्ति की साधना है। उन दोनो मे सामजस्य है। मुक्ति और असयम मे सामजस्य नही है। हमारा ध्येय मुक्ति हो और हमारी जीवनगत प्रवृत्तियो मे सयम न हो, वह ध्येय और ध्येय-पूर्ति की विसगति है। जीवन मे सयम लाने का प्रयत्न हो और मुक्ति का ध्येय निष्ठित न हो, वह भी विसगति है। विसगति की दशा मे जिसकी निष्पत्ति हम चाहते है, वह निष्पन्न नही होता। इसकी निष्पत्ति ध्येय और साधना के सामजस्य से ही हो सकती है।

कोई व्यक्ति मुमुक्षु है तो उसमे सयम होना स्वाभाविक है। मुमुक्षा उसकी प्रवृत्तियो का सहज भाव से नियमन करती है। मुमुक्षु व्यक्ति खाएगा किन्तु खाने मे आसक्त नही होगा। वह देखेगा और सुनेगा किन्तु देखने और सुनने मे उसकी आसक्ति नही होगी। आसक्ति और अनासक्ति के बीच भेदरेखा ध्येय के द्वारा ही खीची जाती है। जिसमे मुमुक्षा है, उसकी प्रवृत्ति इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नही हो सकती किन्तु प्राप्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए होती है। जहा प्रवृत्ति ध्येय की पूर्ति के लिए की जाती है,

वहा धूप से वचाने वाली छत वन जाती है और जहा ध्येय को भुलाकर प्रवृत्ति की जाती है, वहां वह मोतिया वन जाती है। छत का हमारे लिए उपयोग है इसलिए हम उसे पसन्द कर सकते है किन्तु मोतिया हमारी ज्योति को आवृत करता है इसलिए उसे पसन्द नही किया जा सकता। हमारी ध्येयनिष्ठा दुर्वल होती है, उस स्थिति मे प्रवृत्ति मोह और आवरण वन जाती है और हमारी ध्येयनिष्ठा प्रवल होती है तव प्रवृत्ति हमारा वचाव करने लग जाती है। इस सारी परिस्थिति मे जो सत्य उभरता है वह है ध्येयनिष्ठा। जिसकी ध्येयनिष्ठा जितनी प्रवल होगी वह उतना ही जीवन की विसगतियो से वच पाएगा। ध्येयनिष्ठा के अभाव मे जीवन की विसंगतियो को मिटाने की वात हम सोच सकते है किन्तु उन्हे मिटा नही पाते।

२. इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः ॥

३. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि इन्द्रियाणि ॥

२. मन संज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेपणो से की जाती है—

(क) वह इन्द्रियो के द्वारा गृहीत विपयो मे प्रवृत्त होता है, इसलिए इन्द्रिय-सापेक्ष है।

(ख) वह शब्द, रूप आदि सव विपयो को जानता है, इसलिए सर्वार्थग्राही है।

(ग) वह भूत, भविप्य और वर्तमान तीनो का सकलनात्मक ज्ञान करता है, इसलिए त्रैकालिक है।

३. इन्द्रिया पाच है—

१ स्पर्शन

२. रसन

३. घ्राण

४. चक्षु

५ श्रोत्र

इन्द्रिय और मन

चैतन्य की दो भूमिकाए है—विकसित और अविकसित। विकास का

सर्वाधिक निम्नस्तर एकेन्द्रिय मे होता है—उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का विकास होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवो के चैतन्य का क्रमिक विकास होता है। द्वीन्द्रिय को दो इन्द्रिय स्पर्शन और रसन का ज्ञान प्राप्त होता है। त्रीन्द्रिय के घ्राण, चतुरिन्द्रिय के चक्षु और पचेन्द्रिय के श्रोत्र विकसित हो जाते है। इन्द्रिय विकास चैतन्य का पहला स्तर है। चैतन्य का दूसरा स्तर है—मानसिक विकास। वह केवल पचेन्द्रिय जीवो को ही प्राप्त होता है।

मनुष्य पचेन्द्रिय है और मानसिक विकास भी उसे प्राप्त है। यद्यपि इन्द्रिय और मन दोनो चैतन्य के विकास है, फिर भी दोनो की विकास-मात्रा मे वहुत तारतम्य है, इन्द्रियां केवल वर्तमान को ही जानती है। मन भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो को जानता है। इन्द्रियो मे आलोचनात्मक ज्ञान की शक्ति नही है। मन मे आलोचना की क्षमता है। वह इन्द्रियो द्वारा गृहीत विपयो का ज्ञान करता है और स्वतत्र चितन भी।

सज्ञान दो प्रकार के होते है—तात्कालिक और त्रैकालिक। तात्कालिक सज्ञान चीटी जैसे क्षुद्र प्राणियो मे भी होता है। वे इप्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से वचने के लिए निवृत्त होते है किन्तु वे भूत और भविष्य का सकलनात्मक सज्ञान नही कर सकते। उनमे स्मृति और कल्पना का विकास नही होता। त्रैकालिक सज्ञान मे स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमे भूत और भविष्य के सकलन की क्षमता होती है। इसलिए मन को दीर्घकालिक सज्ञान भी कहा जाता है।

प्रश्न—क्या मन ज्ञानात्मक है ?

उत्तर—भाव मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है, इसीलिए वह ज्ञानात्मक है, किन्तु उसका कार्य स्नायुमण्डल, मस्तिष्क और चितन-योग्य पुद्गलो की सहायता से होता है, इसलिए वह पौद्गलिक भी है। हमारी शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाए स्नायुमण्डल के द्वारा सचालित व नियत्रित होती है। मस्तिष्क के दो भाग है—

१. वृहन्मस्तिष्क

२ लघु मस्तिष्क

ज्ञानवाही स्नायु वृहन्मस्तिष्क तक अपना सन्देश पहुचाते है और

उसके ज्ञान प्रकोष्ठ क्रियाशील हो जाते है, मन का मुख्य केन्द्र यह वृहन्मस्तिष्क है।

कुछ आचार्य मन का स्थान हृदय को मानते है और कुछ आचार्य उसे समूचे शरीर मे व्याप्त मानते है। उसका कोई निश्चित स्थान नही मानते। उनका मत है कि जहा श्वास है, वहा मन है और जहा मन है वहा श्वास है। ये दोनो दूध और पानी की भाति परस्पर मिले हुए है—

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्तत.।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, सवीतौ क्षीरनीरवत्॥
(योगशास्त्र ५/२)

मन समूचे शरीर मे व्याप्त है। इसका अर्थ यह नही होना चाहिए कि मानसिक क्रिया के प्रयोजक केन्द्र सारे शरीर मे है। सवेदनावाही और ज्ञानवाही स्नायु समूचे शरीर मे है। वे मस्तिष्क से सम्बद्ध है, इसलिए मानसिक व्यापार समूचे शरीर मे सम्प्रेपित होता है, किन्तु उसका केन्द्र स्थान समूचा शरीर नहीं है।

प्रश्न—क्या मस्तिष्क की क्रिया ही मन नही है ?

उत्तर—मस्तिष्क की क्रिया मन का एक भाग है किन्तु केवल वही मन नही है।

प्रश्न—क्या मस्तिष्क के विना मानसिक क्रिया होती है ?

उत्तर—आख के गोले के विना कोई देख नही सकता, फिर भी उस गोलक की क्रिया को ही देखने की क्रिया नही कहा जा सकता। वैसे ही मस्तिष्क के विना मनन की क्रिया नही होती, फिर भी मस्तिष्क ही मन नहीं है। आख का गोला देखने मे सहयोग करता है, वैसे ही मस्तिष्क मनन मे सहायक है। चैतन्य का विकास और मस्तिष्क-रचना दोनो के समुचित योग से ही मानसिक क्रिया निष्पन्न होती है।

साधना के लिए इन्द्रियो और मन की क्रिया और प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। बाह्य जगत् के साथ हमारा सम्पर्क इन्द्रियो और मन के माध्यम से होता है। दृश्य जगत् को हम आखों से देखते है, श्रव्य जगत् को हम कानो से सुनते है, गन्धवान जगत् को हम सूघते है, रसनीय जगत् का हम रस लेते है और स्पृश्य जगत् का हम स्पर्श करते है। रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व इन्द्रियों के लिए नही है फिर भी उनमे

ग्राह्य-ग्राहक भाव है। इसलिए इन्द्रिया ग्राहक है और विपय उनके द्वारा गृहीत होते है। इन्द्रिय और विषय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध है। वह साधना का विषय नही है किन्तु एक मनुष्य दृश्य को देखता है और उसके प्रति उसके मन मे राग या द्वेप की ऊर्मि उठती है, यह स्थिति साधना की परिधि मे आती है। इन्द्रियो का प्रयोग करना और उसमे राग या द्वेष की ऊर्मियो को उठने न देना, इसी का नाम है साधना। यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य को शुद्ध चैतन्य की भूमिका का अनुभव प्राप्त हो।

जानने और राग या द्वेप की ऊर्मि उत्पन्न होने मे निश्चित सम्बन्ध नही है। किन्तु जहा साधना नही होती, चैतन्य की केवल चैतन्य के रूप मे अनुभूति या स्वीकृति नही होती, वहा ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध अनुरागी और प्रेम या द्वेप्टा और द्वेष्य के रूप मे बदल जाता है। ज्ञान के उत्तरकाल मे होने वाले राग या द्वेष को निर्वीर्य करना ही साधना का उद्देश्य है।

क्या यह सभव है, कोई व्यक्ति सुस्वादु पदार्थ खाए और उसके मन मे राग उत्पन्न न हो ? क्या यह सभव है, कोई आदमी वासी अन्न खाए और उसके मन मे ग्लानि या द्वेष उत्पन्न न हो ? साधारण आदमी के लिए यह सभव नही है। यह असभव नही है किन्तु सभव उसी के लिए है जिसने ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए प्रयत्न किया है।

जिस व्यक्ति के मन मे इन्द्रिय-विपयो के प्रति आकर्पण है, वह उन्हे प्राप्त कर राग या द्वेप से मुक्त नही रह सकता। जिसके आकर्षण का प्रवाह वदल जाता है, विपयो के प्रति उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह वह स्थिति है जिसके लिए मनुष्य साधना के पथ पर चलता है।

इन्द्रियो के साथ वृत्तियो का सम्वन्ध नही होता तव तक इन्द्रिय और विपय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध होता है। पानी अपने आप मे स्वच्छ है। उसमे गन्दगी आ मिलती है तव वह मैला हो जाता है। इन्द्रिय और मन भी अपने आप मे स्वच्छ है। उनमे वृत्तियो की गन्दगी आ जाती है तब वे मलिन वन जाते है। हम तब तक इन्द्रिय और मन की गन्दगी का शोधन या समापन नही कर सकते, जव तक वृत्तियो का शोधन या समापन

नही कर लेते।

हमारी इन्द्रिया चंचल क्यो है ? मन चचल है इसलिए इन्द्रिया चचल है। प्रश्न होगा—मन चचल क्यो है ? हमारी वृत्तियां चंचल है इसलिए मन चचल है। चचलता के हेतु इन्द्रिया और मन नही है, वे तो चचलता का भोग करती है। चंचलता के मूल हेतु वृत्तिया है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन की निर्मलता और उनकी चचलता के समापन का इच्छुक है उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह वृत्तियो के सशोधन का प्रयत्न करे।

वृत्तियां क्या है और उनके सशोधन की प्रक्रिया क्या है ? मनुष्य के जीवन-परिचालन मे जिसका सक्रिय योग होता है, उसे वृत्ति कहा जाता है। वर्तमान की क्रिया अतीत मे वृत्ति का रूप ले लेती है। मनुष्य मे—

१. वुभुक्षा—खाने की इच्छा होती है।
२. शरीर-धारण की इच्छा होती है।
३. ऐन्द्रियिक आसक्ति होती है।
४. श्वास लेने का सस्कार होता है।
५. वोलने की इच्छा होती है।
६. चिंतन का सस्कार होता है।

ये जीवन-धारण की मौलिक वृत्तिया है। वृत्ति के पोषक तत्त्व दो है—राग और द्वेष। रागात्मक भावना के द्वारा मनुष्य प्रियता या अनुकूलता की अनुभूति करता है और द्वेषात्मक भावना के द्वारा मनुष्य अप्रियता या प्रतिकूलता की अनुभूति करता है। रागात्मक भाव माया और लोभ के रूप मे प्रकट होता है। द्वेषात्मक भाव क्रोध और अभिमान के रूप मे प्रकट होता है। ये वृत्तियो को अपने रग मे रंग देते है इसलिए इन्हे कपाय कहा गया है। इन भावो को पुष्टि देने वाले कुछ सहायक भाव है। जैसे · हास्य, रति-अरति, भय, शोक, घृणा, काम-वासना।

इन काषायिक भावो के द्वारा मनुष्य मे अज्ञान, सशय, विपर्यय, मोह, आवरण आदि घटित होते है। महर्षि पतजलि ने प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को वृत्ति माना है।

वृत्तियो का शोधन तपोयोग से होता है। पानी, हवा और धूप के अभाव मे अंकुरित बीज भी मुरझा जाता है। इसी प्रकार पोषक सामग्री

के अभाव मे अर्जित सस्कार निर्वीर्य बन जाते है। गन्दा जल शोधक द्रव्यो के प्रयोग से स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार तपोयोग के द्वारा वृत्तियो के दोप विलीन हो जाते है। इस शोधन की प्रक्रिया पर अग्रिम पृष्ठो मे प्रकाश डाला जाएगा।

४. **आत्ममात्रापेक्षं अतीन्द्रियम्** ॥
५. **चेतनावद् द्रव्यं आत्मा** ॥
६ **ज्ञानदर्शन सहजानन्द सत्यवीर्याणि तत्स्वरूपम्** ॥
७ **परमाणुसमुदयैस्तदावरणविकरणे** ॥
८. **तत्संसर्गाऽसंसर्गाभ्यां आत्मा द्विविधः** ॥
६ **वद्धो मुक्तश्च** ॥
१० **स्वरूपोपलब्धिर्मुक्तिः** ॥

४ पौद्‌गलिक साधनो की अपेक्षा रखे विना केवल आत्मा के द्वारा जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है।
५ जो द्रव्य चेतनावान होता है, उसे आत्मा कहा जाता है।
६ ज्ञान-दर्शन, सहज आनन्द, सत्य (पूर्ण वीतरागता) और वीर्य—यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।
७ परमाणु स्कन्धो के द्वारा आत्मा का स्वरूप आवृत और विकृत होता है।
८ स्वभाव की दृष्टि से सव आत्माए समान होती है, फिर भी परमाणु समुदायो के योग और वियोग के कारण वे दो प्रकार की होती है।
६ परमाणु-समुदायो के योग से युक्त आत्मा वद्ध और उनके योग से वियुक्त आत्मा मुक्त कहलाती है।
१० स्वरूप की उपलव्धि होती है, आवृत-स्वरूप अनावृत होता है, वही मुक्ति है।

अतीन्द्रिय ज्ञान और आत्मा

चेतना के तीन स्तर है—ऐन्द्रियिक, मानसिक और अतीन्द्रिय। चेतना का आवरण सघन होता है तव उसके ऐन्द्रियिक स्तर का विकास होता है।

उसका आवरण पतला हो जाता है तव मानसिक स्तर का विकास होता है। जव वह वहुत क्षीण या पूर्णत विलीन हो जाता है तब अतीन्द्रिय स्तर का विकास होता है। हम लोग इन्द्रिय और मन के स्तर पर ज्ञान कर रहे है इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान की कल्पना नही कर पाते। इन्द्रिय स्तर पर काम करने वाला क्या मानसिक स्तर की कल्पना कर सकता है ? हम उत्तरवर्ती विकास की कल्पना नही कर सकते, उसका हेतु हमारी अपूर्णता है। हम अपनी पूर्णता का अनुभव कर अतीन्द्रिय स्तर की परिकल्पना से दूर नही रह सकते।

चेतना के पहले दो स्तर परोक्ष होते है। उसका तीसरा स्तर प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान वस्तुतः परोक्ष नही होता किन्तु उसकी पद्धति परोक्ष भी वन जाती है। ऐन्द्रियक म्तर पर हम ज्ञेय को इन्द्रियो के माध्यम से जानते है, साक्षात् नही जानते इसलिए हमारा वह ज्ञान परोक्ष होता है। कल्पना, चितन और मनन मे कल्पनीय, चिन्तनीय और मननीय वस्तु का साक्षात् सम्पर्क नही होता इसलिए मानसिक स्तर का ज्ञान भी परोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है, जहा ज्ञाता ज्ञेय को साक्षात् जानता है—शारीरिक या पौद्गलिक उपकरणो की सहायता लिये बिना जानता है।

साधना का उद्देश्य है—परोक्षानुभूति की भूमिका को पार कर प्रत्यक्षानुभूति की भूमिका मे प्रवेश करना, चेतना के आवरण को विलीन कर उसे अनावृत करना। चेतना का अनावरण होने पर हमारी साधना सफल हो जाती है।

परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान की भेदरेखा तीन विन्दुओ से बनी है। परोक्ष ज्ञान का विपय है : स्थूल, अव्यवहित और निकटवर्ती वस्तु। प्रत्यक्ष का विपय है . स्थूल या सूक्ष्म, व्यवहित या अव्यवहित, दूर या निकटवर्ती वस्तु। परोक्ष ज्ञान मनन और शास्त्र (शव्दज्ञान) के माध्यम से होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकार है—अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। चेतना की पूर्ण अनावृत दशा का नाम केवलज्ञान है। उसके द्वारा भौतिक और अभौतिक, मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के ज्ञेय जाने जाते है। अवधि और मन.पर्याय के द्वारा केवल भौतिक और मूर्त द्रव्य ही जाने जाते है। अवधिज्ञान से हम भीत से परे की वस्तु जान सकते है। किन्तु अभौतिक ज्ञेय को नही जान सकते। मन.पर्याय ज्ञान के द्वारा हम चितन मे प्रयुक्त

पौद्गलिक तत्त्वो को जान सकते है किन्तु चेतना की अभौतिक सत्ता को नही जान सकते।

साधना के द्वारा हम स्थूल जगत् से सम्वन्ध विच्छिन्न कर सूक्ष्म जगत् से सम्पर्क स्थापित कर सकते है। जैसे-जेसे हमारे मन का विक्षेप, विकार और आवरण विलीन होता है, वैसे-वैसे सूक्ष्म पर आया हुआ आवरण दूर हटता चला जाता है।

हमारी निरावरण अवस्था ही आत्मा का स्वरूप है। यही हमारी मुक्ति है। आत्मा और मुक्ति का स्वरूप एक है। जो आत्मा है वही मुक्ति है और जो अनात्मा है वही वन्धन है। हम जव तक वन्धन की स्थिति मे रहते है, तव तक हमे अपना स्वरूप उपलव्ध नही होता। जैसे-जैसे हम बन्धन को काटते चले जाते है, वैसे-वैसे ही हमारी मुक्ति होती जाती है। मुक्ति केवल अतिम क्षण मे ही नही होती किन्तु उसका एक क्रम होता है। उसके अनुसार साधना के हर क्षण मे मुक्ति होती है। साधना जैसे ही चरम विन्दु पर पहुचती है, वैसे ही मुक्ति का परिपूर्ण रूप प्रकट हो जाता है।

आत्मा एक द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मात्मक होता है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या उन धर्मो के आधार पर की जा सकती है जो धर्म परमाणु समुदाय से प्रभावित होते है। कुछ परमाणु आत्मा के ज्ञान, दर्शन को आवृत करते है। कुछ परमाणु आत्मा मे विकार उत्पन्न करते है। कुछ परमाणु आत्मा के वीर्य का प्रतिघात या अवरोध करते है। कुछ परमाणु पारमाणविक सयोग या प्राप्ति के हेतु वनते है। इस प्रकार आवरण, विकार, प्रतिघात और प्राप्ति—इन चार रूपो मे परमाणु आत्मा को प्रभावित करते है। यह प्रभावित अवस्था ही वन्धन है। इस प्रभाव से छूटना ही मुक्ति है और वही आत्मा का स्वरूप है। निरावरण दशा आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है ज्ञान और दर्शन का पूर्णरूपेण प्रकट हो जाना। वीतरागता आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है विकार से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना। शक्ति आत्मा का स्वरूप है। परमाणुओ से असवद्ध होना आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप की उपलव्धि ही साधना का प्रयोजन है। वन्धन-मुक्ति से बढकर साधना का और प्रयोजन हो ही क्या सकता है ?

११. मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः ॥

१२ संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्त इति पर्यायाः ॥

१३ शोधनं च ॥

१४. समितिः सत्यप्रवृत्तिर्विशुद्धि इति पर्यायाः ॥

१५. पूर्व शोधनं ततो निरोधः ॥

१६ हित-मित-सात्त्विकाहरणं आहारशुद्धिः ॥

१७. स्वविषयान् प्रति सम्यग्योग इन्द्रियशुद्धिः ॥

१८. प्रतिसंलीनता च ॥

१९. प्राणायाम-समदीर्घश्वास-कायोत्सर्गे आनापानशुद्धिः ॥

२०. कायोत्सर्गाद्यासन-वन्ध-व्यायाम-प्राणायामैः कायशुद्धिः ॥

२१. निस्संगत्वेन च ॥

२२. प्रलम्वनादाभ्यासेन वाक्शुद्धिः ॥

२३ सत्यपरत्वेन च ॥

२४. दृढ़संकल्पैकाग्रसन्निवेशनाभ्यां मनःशुद्धिः ॥

११ बन्धन-मुक्ति के लिए मन, वाणी, काय, आनापान, इन्द्रिय और आहार के निरोध को योग कहा जाता है।

१२. संवर, गुप्ति, निरोध और निवृत्ति—ये उनके पर्यायवाची नाम है।

१३. मन, वाणी, काय, आनापान, इन्द्रिय और आहार की शुद्धि को भी योग कहा जाता है।

१४. समिति, सत्प्रवृत्ति और विशुद्धि—ये उनके पर्यायवाची नाम है।

१५. पहले मन आदि का शोधन होता है, फिर निरोध।

१६ हितकर भोजन करना, मितभोजन करना—ठूस-ठूंसकर न खाना, मित द्रव्य खाना—बहुत वस्तुएं एक साथ न खाना, मित समय मे खाना—समूचे दिन खाते ही न रहना, मिर्च-मसाले आदि उत्तेजक वस्तुएं न खाना—ये आहारशुद्धि के उपाय है।

१७ स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का अपने-अपने विपयो (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द) के प्रति जो सम्यग् योग होता है— निर्विकार और शान्तप्रवृत्ति होती है, वह इन्द्रिय-शुद्धि

का उपाय है।

१८ प्रतिसलीनता भी इन्द्रिय-शुद्धि का उपाय है।

१६. प्राणायाम, समतालश्वास, दीर्घश्वास और कार्योत्सर्ग के द्वारा श्वासोच्छ्वास की शुद्धि होती है।

२० कायोत्सर्ग आदि आसनो, मूलवन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, व्यायाम और प्राणायाम के द्वारा काय की शुद्धि होती है।

२१. निर्लेपता के द्वारा भी काय की शुद्धि होती है।

२२ ऊ, अर्ह आदि शब्दो के लम्वे उच्चारण से वाणी की शुद्धि होती है।

२३. सत्यपरकता से भी वाणी की शुद्धि होती है।

२४ दृढ सकल्प करने व एक लक्ष्य पर स्थिर होने से मन की शुद्धि होती है।

योग

प्रश्न–क्या जैन साहित्य मे 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है ?

उत्तर–जैन साहित्य मे 'योग' शव्द का व्यवहार अनेक रूपो मे हुआ है–अध्यात्मयोग, भावनायोग, सवरयोग, ध्यानयोग आदि। सूत्रकृताग जैसे प्राचीन सूत्र मे 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है। जैन तत्त्वविद्या मे मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। उसका प्रयोग वहुत प्रचलित है, इसलिए साधना के अर्थ मे सवर या प्रतिमा का प्रयोग अधिक प्रचलित है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तिया) और दस शक्ति-केन्द (प्राण) है।

१ आहार पर्याप्ति

२ शरीर पर्याप्ति

३ इन्द्रिय पर्याप्ति

४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति

५. भापा पर्याप्ति

६. मन-पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र–

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	६ मनोवल
२. चक्षुःइन्द्रिय प्राण	७ वचन-वल
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८ काय-वल
४. रसनेन्द्रिय प्राण	६ श्वासोच्छ्वास प्राण
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१०. आयुष्य प्राण।

इनमे परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण है और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। संख्या-विस्तार को सक्षेप मे लाने पर दोनो की संख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति-केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायवल
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्दिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास प्राण
भापा पर्याप्ति	वचनवल
मन पर्याप्ति	मनोवल

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था मे होते हैं और न अचेतन मे होते है, ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते है। हम जितने प्राणी है, वे सव चेतन और अचेतन (पुद्गल) के सयोग की अवस्था मे है। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नही हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही है। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न है, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका मे भी नही है। हम चैतन्य और अचैतन्य की सयुक्त भूमिका मे हैं।

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्त्व के वीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) है। जिनमे आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव है और जिनमे ये शक्तिया नही है, वे निर्जीव है।

भाषा-शक्ति व चितन-शक्ति जीव के लक्षण नही हैं किन्तु वे विकास के अग्रिम सोपान है।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरभ-काल मे ही निष्पन्न हो जाते हे। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है ? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य हे, ऐसा प्रतीत नही होता। जीवन जब प्रवुद्ध होता है तव उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन है · शोधन और निरोध। विस्तार मे इनके वारह प्रकार हो जाते है—

१ आहार शुद्धि	७ श्वासोच्छ्वास शुद्धि
२ आहार निरोध	८ श्वासोच्छ्वास निरोध
३ शरीर शुद्धि	६ वाक् शुद्धि
४ शरीर निरोध	१० वाक् निरोध
५ इन्द्रिय शुद्धि	११ मन शुद्धि
६ इन्द्रिय निरोध	१२ मन निरोध

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जव अपने चरम विन्दु पर पहुच जाती है तब निरोध की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है।

योग का विशिष्ट अग निरोध है। जव तक मन आदि का निरोध नही होता, तब तक शोधन का क्रम विकासशील नही वनता। निरोध की अपेक्षा शोधन सरल हे, इसलिए वह सहजतया हो जाता है किन्तु उसकी पूर्णता निरोध से जुडने पर ही होती है। मानवीय चर्या के तीन अग है—असत् प्रवृति, सत् प्रवृत्ति और निवृत्ति। साधना का क्रम-प्राप्त मार्ग यह है कि हम पहले असत् प्रवृत्ति से हटकर सत्प्रवृत्ति की भूमिका मे आए और फिर निवृत्ति की भूमिका को प्राप्त करे।

प्रश्न—क्या इन्द्रिय की शक्ति का विकास किया जा सकता है ?

उत्तर—इन्द्रियो की शक्ति का विकास किया जा सकता है। यद्यपि तर्कशास्त्री मानते है कि इन्द्रिय का अपने विषय मे ही विकास हो सकता है, जैसे आख रूप को देखने मे बहुत पटु बन सकती है किन्तु वह अपने विषय का अतिक्रमण नही कर सकती अर्थात् शव्द को नही सुन सकती। योग के क्षेत्र मे यह तर्कशास्त्रीय नियम सम्मत नही है। उसके अनुसार इन्द्रियो का विकास अपने विषय की सीमा मे तथा उससे आगे भी किया जा सकता है। इन्द्रियो की इस विकसित शक्ति को सभिन्नस्रोतोपलव्धि कहा जाता है। जो व्यक्ति इस लव्धि (योगज विभूति)

को प्राप्त कर लेता है, वह किसी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम ले सकता है। उदाहरण के रूप में वह स्पर्शन इन्द्रिय से सुन सकता है, देख सकता है, सूंघ सकता है और चख सकता है।

आहार-शुद्धि के उपाय

१. हिताहार
२. मिताहार
३. सात्त्विकाहार।

हिताहार—जो आहार सम धातुओ को प्रकृति में स्थापित करता है और विपम धातुओं को सम करता है, उसका नाम हिताहार है। प्रकृति के अनुकूल भोजन करना, विरुद्ध वस्तुएं न खाना, विकृत वस्तुए न खाना आदि-आदि।

हिताहार की कसौटिया निम्न है—
१. शरीर की शक्ति-क्षय का निवारण
२. शरीर की वृद्धि
३. शरीर को उचित ताप-प्रदान
४. बलकारक
५. शीघ्र पाचन
६. अनुत्तेजक
७ स्मृति, आयु, वर्ण, ओज, सत्त्व एवं शोभा की वृद्धि।

मिताहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना कठिन है। जितना खाने पर एक घटा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने से पेट फटता न हो, वह मितभोजन है।

सात्त्विकाहार—मादक व उत्तेजक वस्तुओ का वर्जन, शरीर-इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाघव मे वाधा न पड़े, वैसा भोजन।

इन्द्रिय-शुद्धि के उपाय

१ इन्द्रियो का सम्यग् योग
२ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार है—अयोग, अतियोग और योग।

इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा मे अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियों की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन है। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती है, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आखे हो और वे रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नही कि कान हो और वे शब्द न सुने। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे इसकी अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य से है जबकि उसके सम्यग् योग का सम्बन्ध हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है पर उसके साथ कल्पनाओ का योग नही करता। स्पर्शन और विकार एक नहीं है। इन्द्रियो के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित होकर राग-द्वेष से जुड जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है वर्तमान मे प्राप्त विषयो को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओ को न जोडना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द को सुनना, केवल गन्ध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसलीनता है। इन्द्रिय-शुद्धि की प्रथम भूमि मे विषय और इन्द्रियो के सम्बन्ध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका मे विषयो से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आख बन्द कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का सम्बन्ध-विच्छेद है। कान बन्द कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध-विच्छेद है। नाक को बन्द कर लेना—यह गध के साथ घ्राण का सम्बन्ध-विच्छेद है। आहार नही करना—यह रस के साथ रसना का सम्बन्ध-विच्छेद है। स्पर्श नही करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का सम्बन्ध-विच्छेद है। इन्द्रियो का बहिर्जगत् मे प्रयोग न करना, उन्हे अपने-अपने क्षेत्रो मे ही सीमित रखना प्रतिसलीनता है।

इन्द्रियो की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमे अन्तर्लीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर्

के प्रति आकर्पण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्पण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर् के प्रति आकर्षण बढ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाए है—वाह्य और अन्तरग। इन्द्रियो की शक्ति अन्तरग आकर्षण की ओर मुड जाए तो अन्तरग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनो भूमिकाओ का तुलनात्मक रूप निम्न यत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर्-आकर्षण
बाह्य ध्वनि	अन्तर्-ध्वनि
बाह्य दर्शन	अन्तर्-दर्शन
बाह्य गध	अन्तर्-गध
वाह्य रस	अन्तर्-रस
वाह्य स्पर्श	अन्तर्-स्पर्श

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अगध, अरस और अस्पर्श है।

हम अन्तर्-ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका मे नही पहुंच पाते है। इस प्रयत्न मे हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुच पाते है। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का सम्बन्ध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते है।

आनापानशुद्धि के उपाय

१. प्राणायाम
२. समतालश्वास
३. दीर्घश्वास
४ कायोत्सर्ग।

प्राणायाम—प्राणवायु के विस्तार को प्राणायाम कहा जाता है। उसके तीन अग है—

१. पूरक
२ रेचक
३. कुम्भक।

हम प्राणवायु को नथुनो द्वारा खीचकर नाभि तक ले जाते है, वह

पूरक है। प्राण को नाभि से उठाकर नथुनो द्वारा वाहर ले जाते है, वह रेचक है। जिस अवस्था मे प्राणवायु का ग्रहण और विसर्जन नहीं करते, वह कुम्भक है। यह श्वास को रोकने की अवस्था है। श्वास को भीतर ले जाकर रोकते है, उसे अन्त:कुम्भक कहा जाता है। उसे वाहर ले जाकर रोकते है उसका नाम वहि:कुम्भक है।

प्राण हमारी नाडियों से प्रवाहित होता है। वह कभी वायें नथुने से प्रवाहित होता है। उस मार्ग को इडा नाडी या चन्द्रस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दाये नथुने से प्रवाहित होता है, उस मार्ग को पिंगला नाड़ी या सूर्यस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दोनों नाड़ियो के वीच में प्रवाहित होता है, उस मार्ग का नाम सुषुम्ना नाडी है। चन्द्रस्वर शीत और सूर्यस्वर उष्ण होता है। सुपुम्ना मे सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम से सुषुम्नास्वर चलने लग जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं। किन्तु वायु-शुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाये हाथ के अगूठे से दाये नथुने को बन्द कर बाये नथुने से श्वास ले और दाये नथुने से उसका रेचन करे। दाये हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियों से वाये नथुने को बन्द कर दायें नथुने से श्वास लें और वाये नथुने से उसका रेचन करें। प्रारम्भ मे ऐसी आठ-दस आवृत्तियां की जा सकती है, फिर धीमे-धीमे तीस तक बढाई जा सकती है।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है—

पूरक	आठ मात्रा
रेचक	सोलह मात्रा
कुम्भक	बत्तीस मात्रा

सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की इस द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का कालमान ऊपर बताया गया है।

समूलबन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे कुम्भक और

मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयान बन्ध और जुड़ जाता है।

श्वास के दोष विपम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते हैं और वे मन को चचल वनाते है। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितांत आवश्यक है। साधना की भाषा मे जैसा कि मै समझ पाया हू श्वास और मन का गहरा सम्बन्ध है। श्वास की चचलता मन की चंचलता को जन्म देती है और मन की चचलता फिर श्वास को चचल बनाती है। इस क्रम मे स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है।

प्राणायाम का क्रमिक विकास—प्रारम्भ मे प्राणायाम के दो अगो—पूरक और रेचक का ही अभ्यास करना चाहिए। सोमदेव सूरि ने लिखा है—

मन्दं मन्द क्षिपेद् वायु, मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत्।
न क्वचिद् वार्यते वायुर्न च शीघ्र प्रमुच्यते॥

(यशस्तिलक, ३६)

प्राणवायु को धीमे-धीमे लेना चाहिए और धीमे-धीमे छोड़ना चाहिए। वायु को न रोका जाए और न शीघ्रता से छोडा जाए। प्रारम्भ मे प्राण को रोकने का अभ्यास होता है, इसलिए उसे रोक लेने पर शीघ्रता से छोडने की स्थिति पैदा हो जाती है। वैसा करने मे हानि होती है।

प्रारम्भ मे दीर्घ श्वास का अभ्यास, फिर पूरक और रेचक का अभ्यास और फिर कुम्भक का अभ्यास—यह प्राणायाम का विकासक्रम है। हठयोग में प्राणायाम के अनेक प्रकार बतलाये गए है। शारीरिक सिद्धियो के लिए उनका उपयोग भी हो सकता है किन्तु ध्यान की सिद्धि के लिए उनका उपयोग हमारे अनुभव मे नहीं है। ध्यान की सिद्धि के लिए उसी प्राणायाम का उपयोग होता है, जिससे प्राण सूक्ष्म बन सके। नाभि, नासाग्र, भृकुटि और मस्तिष्क मे मन को केन्द्रित करने से प्राण सूक्ष्म हो जाता है। कुम्भक करने से तो वह सूक्ष्म होता ही है।

रेचक और पूरक का सम्यक् अभ्यास हो जाने के बाद पांच-दस सेकण्ड का कुम्भक किया जाए और वह भी चार-पांच बार। फिर धीमे-धीमे समय और बार दोनो बढाए जा सकते है।

जिसे मन को स्थिर करने की सामान्य अपेक्षा हो, वह दो-तीन मिनट

का कुम्भक दिन-रात मे दो-चार वार कर ले और जिसे विशेष साधना करनी हो, वह घटो तक कुम्भक का अभ्यास कर सकता है।

कुम्भक जितना शक्तिस्रोत है, उतना ही भयकर है। कुम्भक की विशेष साधना किसी अनुभवी साधक की देख-रेख मे ही की जा सकती है। उसमे खाने, चलने, वोलने की चर्या में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ता है।

प्राणायाम के व्यावहारिक लाभ—पूरक से पुष्टि प्राप्त होती है। रेचक से उदर की व्याधिया क्षीण होती है। कुम्भक मे आन्तरिक शक्तियां जाग्रत होती है। चन्द्रस्वर से गर्मी शान्त होती है और सूर्यस्वर से गर्मी वढ़ती है। वायु तथा कफ के प्रकोप मिटते है। जो स्वर चल रहा हो, उसे रोककर विपरीत स्वर चलाने से तात्कालिक उपद्रव शान्त होते हैं। दूपित प्राण-वायु से जीवन की हानि होती है और शुद्ध प्राणवायु से जीवनी-शक्ति का विकास होता है।

इन्द्रियविजय, मनोविजय, कपायविजय—इन शव्दों से हम सुपरिचित हैं किन्तु प्राणविजय शव्द से हम सुपरिचित नही है। जैन लोगो मे एक साधारण धारणा है कि प्राणायाम हमारी परम्परा मे मान्य नही है, महर्पि पतजलि तथा हठयोग की परम्परा मे मान्य रहा है। यह धारणा समुचित नहीं है।

आवश्यक निर्युक्ति मे श्वास का निरोध न किया जाए ऐसा उल्लेख मिलता है। किन्तु यह निषेध किसी विशेप स्थिति मे किया गया प्रतीत होता है। भद्रवाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उसकी आधार-भित्ति प्राणायाम है। अन्य अनेक आचार्यो ने ध्यान संवरयोग की साधना की है। उसमे भी प्राणायाम प्रमुख होता है। महाप्राण साधना या ध्यान योग की साधना मे वारह-वारह वर्प लग जाते थे। इस साधना मे लगने वाले संघीय कार्य करने से विरत हो जाते थे तथा किसी प्रमादवश प्राणहानि भी हो जाती थी। सभव है इसी प्रकार के किसी कारण को ध्यान मे रखकर आवश्यक निर्युक्ति मे श्वासनिरोध का निषेध किया गया।

वस्तुवृत्या प्राणायाम जैन-परम्परा से असम्मत नही है। प्राणायाम के विना प्राण-विजय नही हो सकती और उसके बिना इन्द्रिय-विजय,

मनोविजय और कषायविजय का होना साधारणतया सभव नही है। ध्यान की प्रत्येक पद्धति के साथ श्वास को सूक्ष्म या मन्द करने का विधान मिलता है।

सूक्ष्म प्राणायाम का अभ्यास अनेक विधियो से किया जा सकता है—

१. सर्वप्रथम दीर्घ-श्वास का अभ्यास करे। धीमे-धीमे श्वास को भीतर गहरे मे ले जाए और धीमे-धीमे उसका रेचन करे। इस क्रिया से नाभि के आस-पास तक प्रकम्पन पैदा हो जाता है। कम से कम इसकी बीस-पचीस आवृत्तिया होनी चाहिए।

२. श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से वह शान्त, मन्द और दीर्घ अपने आप हो जाता है।

३. सामान्यतः हम एक मिनट में पन्द्रह श्वास और पन्द्रह नि·श्वास लेते हैं। दो सेकेण्ड मे एक श्वास या एक नि·श्वास होता है। क्रमिक अभ्यास के द्वारा एक मिनट मे छह श्वास और छह निःश्वास, फिर तीन श्वास और तीन निःश्वास, फिर दो श्वास और दो नि श्वास तथा एक श्वास और एक निःश्वास एक मिनट मे करे। यह सूक्ष्म प्राणायाम है। इससे मन को स्थिर, शान्त करने मे बहुत सहयोग मिलता है।

योग की भाषा मे प्राण, बिन्दु (वीर्य) और मन पर्यायवाची जैसे है। प्राण पर विजय पा लेने से विन्दु और मन पर विजय हो जाती है। बिन्दु पर विजय पा लेने से प्राण और मन विजित हो जाते है। मन पर विजय पा लेने से प्राण और बिन्दु सध जाते है। तीनों मे से किसी एक की साधना करने पर शेष दो स्वय सध जाते है।

प्राण, बिन्दु और मन—इन तीनो मे प्राण का स्थान पहला है। पहला इस अर्थ मे है कि प्राण की साधना के बिना उन दोनो को साधना सर्व साधारण के लिए कठिन कार्य है।

समताल श्वास—जितनी मात्रा मे पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा में दूसरा, तीसरा। इस प्रकार तालबद्धश्वास लेना समताल श्वास है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।

कायोत्सर्ग—कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चचलता का विसर्जन। इसका विवेचन कायोत्सर्ग के प्रकरण मे किया जायेगा।

कायशुद्धि के उपाय

कायोत्सर्ग, आसन, मूलबन्ध, उड्डीयानवन्ध, जालन्धरवन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निर्लेपता—ये कायशुद्धि के उपाय है।

कायशुद्धि के उपर्युक्त आसनो का वर्णन आसन प्रकरण मे किया जायेगा।

मूलवन्ध—गुदा को ऊपर की ओर खीचने को मूलबन्ध कहा जाता है। साधना की प्रत्येक अवस्था मे मूलवन्ध करना वहुत आवश्यक है। यह एक प्रकार से साधना का आधारभूत है। इससे मूल नाड़ी सीधी हो जाती है। मन की एकाग्रता करने के लिए यह वहुत अपेक्षित है।

उड्डीयानवन्ध—श्वास का रेचन कर पेट को सिकोड़ना उड्डीयानवन्ध है। उड्डीयान करते समय छाती का भाग थोडा आगे की ओर उभरा हुआ होना चाहिए। उदर सम्वन्धी दोषो को मिटाने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। इससे अग्नि प्रज्वलित होती है। पेट को सिकोडने पर इसका अन्तर्भाग पृष्ठरज्जु से सटकर उस पर दवाव डालता है। उससे तैजसशक्ति (कुण्डलिनी) और ज्ञानततु दोनो प्रदीप्त होते है।

जालन्धरबन्ध—ठुड्डी को कण्ठकूप मे स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। सर्वागासन, हलासन, मत्स्यासन की एक मुद्रा मे यह अपने आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि पर उचित दबाव पडता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियो के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त, ताप तथा प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्तियो को नियत्रित करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालन्धरबन्ध के द्वारा हम नियंत्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते है।

मूलबन्ध लम्बे समय तक तथा चाहे जितनी बार किया जा सकता है। उड्डीयानबन्ध का अभ्यास भोजन करने से पूर्व किया जा सकता है किन्तु प्रारम्भ में लम्बे समय तक करना उचित नही है। पेट को भीतर की ओर सिकोडकर आधा मिनट तक रखा जा सकता है। एक सप्ताह के अभ्यास के वाद एक मिनट तक। इस प्रकार प्रति सप्ताह आधा या एक मिनट बढ़ाते-बढाते अपनी शक्ति व सहिष्णुता के अनुसार आधा घंटा तक बढ़ाया जा सकता है। इस बन्ध के साथ मूलबन्ध अवश्य होना

चाहिए तथा आंखे खुली नही होनी चाहिए अन्यथा उनकी ज्योति नष्ट होने की संभावना रहती है। जालन्धरबन्ध का समय भी उड्डीयानबन्ध की भांति क्रमशः बढ़ता है। इसे साधारण आदमी को पाच-सात मिनट से ज्यादा नही बढ़ाना चाहिए। कुछ समय के लिए तीनो बन्ध एक साथ किए जा सकते हैं।

व्यायाम–हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोड़ना और फैलाना व्यायाम है।

निर्लेपता–विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते है और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते है। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

वाक्शुद्धि के उपाय

१. प्रलम्बनाद का अभ्यास

२. सत्यपरक प्रयोग

वाक् मन परिष्कृत होकर ही प्रकट होती है। मन की सरलता होती है तब वाणी शुद्ध रहती है। मन की कुटिलता होने पर वह अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है वही हो जाता है। वाणी मे यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ॐ, अर्ह, सोहम् आदि मत्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन वाणी के साथ जुड़ जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वह वायुमण्डल में तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते है और इष्ट परमाणुओं का परिपार्श्व बन जाता है।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारम्भ कर पन्द्रह मिनट तक वढ़ाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढ़ाया जा सकता है। इस अभ्यास मे मन को समस्याओ से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है।

मनःशुद्धि के उपाय

१. दृढ़ सकल्प

२. एकाग्रसन्निवेशन।

दृढ संकल्प–हमारे मन मे कामनाए उठती रहती हैं। उन कामनाओं मे कार्यरूप मे वदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हे संकल्प कहा जाता है। समुद्र मे ऊर्मियो की भाति सकल्प हमारे मन मे उत्पन्न होते है और विलीन हो जाते है। वे अस्थिर सकल्प होते है। उनसे हमे कोई लाभ प्राप्त नही होता। स्थिर सकल्प कार्य-रूप मे परिवर्तित हुए विना विलीन नही होता। वह दीर्घकाल तक टिका रहता है। उसे भावनात्मक रूप देने–बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने से वह रूढ हो जाता है। दृढ सकल्प मे कार्य-रूप मे परिणत होने की क्षमता होती है। उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को वदल सकते है। वुरे विचारो को छोडने व अच्छे विचारों की आदत डालने मे दृढ सकल्प हमारी वहुत सहायता करता है।

एकाग्रसन्निवेशन–एकाग्रता मन की विरोधावस्था नही है। यह उसकी किसी एक विषय मे निरोधावस्था है। अनेक मार्गो मे जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग मे मोड देना है। नदी का प्रवाह जव अनेक मार्गो मे वहता है, तब वह क्षीण हो जाता है। एक प्रवाह मे जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहो मे नही हो सकती। सूर्य की बिखरी रश्मियो मे वह शक्ति नही होती, जो केन्द्रित किरणो मे होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरतर वहता है तव उसमे अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षेत्र मे मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन-प्रवाह को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतिया है। उनमे से कुछ पद्धतियो को यहा प्रस्तुत किया जाता है–

१. द्रष्टा की स्थिति–मन की चचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहा जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेय मन को ही बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नही कर पाएगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगे।

२. विकल्पों की उपेक्षा–आपके मन मे जो विकल्प उठते है, उनकी उपेक्षा कीजिए। जो प्रश्न उठते है, उनके उत्तर मत दीजिए। जैसे प्रश्न करने वाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पाकर (प्रश्नो का उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३. **अप्रयत्न**—मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास को मन्द कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मन्द होगा, वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा।

४. **श्वास-योग**—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास मे लीन हो जाएगा।

५. **आकृति-आलम्बन**—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्र बनाइए। पहले देश-काल और बाह्य वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए, फिर उसे मानसिक चित्र मे वदल दीजिए। वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राणवान जैसा कीजिए।

यदि प्रारम्भ मे ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियो पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्र बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६. **शव्द-आलम्बन**—इष्ट मत्रो मे मन को लगाइए। मन का प्रवाह शव्द की दिशा मे प्रवाहित होकर अन्य विकल्पो से शून्य हो जाता है। जप की प्रक्रिया मे इसे विस्तार से बताया जाएगा।

७. **दृढ़ इच्छा-शक्ति**—इच्छा-शक्ति भावो से उत्पन्न होती है। भावो की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावो को इच्छा-शक्ति के रूप मे वदलने का साधन है-स्वत सूचना (Auto Suggestion)। मन को सूचना देने से भावो मे उत्तेजना आरम्भ होती है और वही इच्छा-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इच्छा-शक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ हो जाती है। दृढ़ इच्छा-शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

२५ **मिथ्यादृष्टिरविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धाकर्षणहेतवः॥**

२६ **सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतवः।**

२५. मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी तथा शरीर की प्रवृत्ति) के द्वारा आत्मा के साथ परमाणु-स्कन्धो का सयोग होता है।

२६. सम्यग्दृष्टि, विरति, अप्रमाद, अकपाय और अयोग (मन, वाणी

तथा शरीर की प्रवृत्तियो का निरोध) से आत्मा के साथ परमाणु-स्कन्धों का योग रुक जाता है।

वन्ध और मुक्ति के हेतु

वन्ध और मुक्ति की मीमांसा वहुत विस्तार से की गई है। कमी-कभी ऐसा होता है कि वहुत विस्तार से कही गई वात स्मृति मे नहीं रहती। तव उसका सक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। सक्षेप में वन्ध का हेतु एक है और मोक्ष का हेतु भी एक ही है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शव्दों मे व्यक्त किया है—

आस्रवो भवहेतु॰ स्यात् सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि॰ सर्वमन्यत् प्रपचनम्॥

आस्रव बन्ध का हेतु और संवर मोक्ष का हेतु। जैन-धर्म का मौलिक प्रतिपाद्य इतना ही है। शेप सव उसका विस्तार है।

योग-साधना के द्वारा हम मुक्ति का अनुमव करना चाहते है, किन्तु आस्रव के द्वारा बन्ध प्रवाहित होता रहता है, इसलिए हम मुक्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

मिथ्यात्व से हमारे दृष्टिकोण मे विपर्यय छा जाता है, इसलिए हम मुक्त भाव से सत्य का साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते।

अव्रत के द्वारा हमारा मन आकांक्षाओं से भरा रहता है, इसलिए हम सहज स्वभाव की अनुभूति नही कर पाते।

प्रमाद के द्वारा आत्म-दर्शन के प्रति अलसता उत्पन्न हो जाती है, फलत॰ हम अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिए जागरूक नहीं रह पाते।

कषाय के द्वारा हमारी आत्मा सतप्त रहती है इसलिए हम सहज शान्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

प्रवृत्ति के द्वारा हमारी सहज स्थिरता समाप्त हो जाती है, इसलिए हम आत्म-उपलब्धि के लिए केन्द्रित नही हो पाते।

इस प्रकार आस्रव के द्वारा हमारी चेतना बधी हुई रहती है। जीवन-पथ की दीर्घ यात्रा में काल-विपाक के कारण कोई क्षण ऐसा आता है कि आत्मा मे मुक्ति की भावना जाग उठती है। उसकी पूर्ति के लिए योगसाधना का सहारा लिया जाता है। उसका मुख्य हेतु संवर है, ठीक

आस्रव का प्रतिपक्ष। आस्रव के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते हैं और सवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति ये प्रवृत्त हो जाते है। जैसे ही हमे देह और आत्मा का भेदज्ञान होता है, वैसे ही हमारा मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हमे आत्म-स्वभाव की अनुभूति होती है, हमारी आकाक्षाओ का स्रोत रुक जाता है। जैसे ही हम आत्म-उपलब्धि के प्रति जागरूक होते हैं, हमारा बाह्य जगत् के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हम सहज शान्ति के अनुभव मे लीन होते है, हमारा मानसिक संताप विलीन हो जाता है। जैसे ही हम स्वानुभूति मे निष्पन्द होते है, हमारी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

मन, वाणी और कर्म का स्पन्दन होता है, तब हम बाह्य जगत् के सम्पर्क मे रहते है और जब ये निष्पन्द हो जाते है, तब हम अन्तर्जगत् या अपने स्वभाव मे चले जाते है। इसी प्रकार सताप, आकर्षण, आकांक्षा और मिथ्या दृष्टिकोण हमे बाह्य की ओर उन्मुख करते है। सम्यक् दृष्टिकोण, सहज तृप्ति, सहज शान्ति और सहज आनन्द हमे आत्मोन्मुखता की ओर ले जाते है। आत्म-विमुखता ही आस्रव है और आत्मोन्मुखता ही संवर है। साधना का अर्थ ही है—आत्मविमुखता से हटकर आत्मोन्मुख होना। यम (महाव्रत), नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि उसी की साधन-सामग्री है। ध्यान और समाधि संवर से भिन्न नही है। इसीलिए जैन योग मे सवर ध्यान-योग का सर्वोपरि महत्त्व है।

२७. इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणिआत्मनो लिंगम् ॥

२७. इन्द्रिय, मन और अतीन्द्रिय ज्ञान (योगी ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान व प्रत्यक्ष ज्ञान) आत्मा को जानने के साधन है।

साधना का प्रयोजन

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का मन स्वस्थ रहता है। मन स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि इन्द्रियां निर्मल रहती हैं। बुद्धि भी

निर्मल रहती है। इस प्रकार स्वास्थ्य और निर्मलता—रो दोनो साधना के परिणाम है। ये परिणाम है किन्तु मूलभूत प्रयोजन नहीं है। साधना का मूलभूत प्रयोजन है—सत्य का साक्षात्कार।

सत्य असीम है। हमारे इन्द्रिय, मन और वुद्धि की शक्ति सीमित है। हम ससीम साधनो के द्वारा असीम का साक्षात्कार नही कर सकते।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा हैं। उसकी चैतन्य शक्ति असीम है। उसे अनावृत कर हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते है। ध्यान का स्थिर अभ्यास किए बिना हम आत्मा की चैतन्य शक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग नही कर सकते। इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्थूल जगत् या स्थूल सत्य से होता है। उनमे सूक्ष्म सत्य तक पहुचने की क्षमता नही है। ध्यान के द्वारा हम चेतना के सूक्ष्म स्तर तक चले जाते है। सूक्ष्म चैतन्य के द्वारा सूक्ष्म सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञांन का विकास साधना का मुख्य प्रयोजन है।

अतीन्द्रिय ज्ञान व आत्म-साक्षात्कार में कोई भेद नही है। इसे आत्मोदय भी कहा जा सकता है।

दूसरा प्रकरण

१ मूढ़-विक्षिप्त-यातायात-श्लिष्ट-सुलीन-निरुद्धभेदाद् मनः षोढा।
२. दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्तं मूढम् ॥
३. अनर्हमेतद् योगाय ॥
४. इतस्ततो विचरणशीलं विक्षिप्तम् ॥
५. कदाचिदन्तः कदाचिद् वहिर्विहारि यातायातम् ॥
६. प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ॥
७. विकल्पपूर्वकं वाह्यवस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्यं अल्पानन्दञ्च ॥
८. स्थिरं श्लिष्टम् ॥
९. सुस्थिरं सुलीनम् ॥
१०. द्वयमिदं संजाताभ्यासस्य योगिनः ॥
११. वाह्यवस्तुनः अग्रहणाद् दृढस्थैर्यं महानन्दञ्च ॥
१२. मनोगतध्येयमेवास्य विषयः ॥
१३. निरालम्बनं केवलमात्मपरिणतं निरुद्धम् ॥
१४. इदं वीतरागस्य ॥
१५. सहजानन्दप्रादुर्भावः ॥

१. मन छह प्रकार का होता है—

१. मूढ	४. श्लिष्ट
२. विक्षिप्त	५. सुलीन
३. यातायात	६ निरुद्ध

२. जो मन दृष्टिमोह (मिथ्यादृष्टि) तथा चरित्रमोह (मिथ्या आचार) से परिव्याप्त होता है, उसे मूढ कहा जाता है।

३. मूढ़ संज्ञावाला मन योग-साधना के योग्य नही होता। जिसकी दृष्टि सम्यग् नही होती, जिसका चरित्र यम-नियम युक्त नही

होता, वह व्यक्ति योग-साधना का अधिकारी नही होता।

४ जो मन इधर-उधर विचरण करता रहता है, किसी एक विपय पर निश्चल नही रहता, उसे विक्षिप्त कहा जाता है।

५ जो मन कभी अन्तर्मुखी बनता है और कभी वहिर्मुखी—उसे यातायात कहा जाता है।

६ विक्षिप्त और यातायात मन योग का प्रारम्भिक अभ्यास करने वाले व्यक्तियो मे होते है।

७ इन दोनो मनोभूमिकाओ मे विकल्पपूर्वक वाह्य वस्तुओ का ग्रहण होता रहता है। इसलिए इनमे स्थिरता अल्प मात्रा वाली एव अल्पकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी अल्प होता है।

८. अपने ध्येय मे स्थिर बने हुए मन को श्लिष्ट कहा जाता है।

९ जो मन अपने ध्येय मे सुस्थिर बन जाता है, उसे सुलीन कहा जाता है।

१० ये दोनो मनोभूमिकाए परिपक्व अभ्यास वाले योगी के होती है।

११. इसमे बाह्य वस्तुओ का ग्रहण नही होता, इसलिए इन भूमिकाओ मे स्थिरता दृढ एव चिरकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी विपुल होता है।

१२ इस युगल (श्लिष्ट और सुलीन) का विषय मनोगत ध्येय ही होता है। यहा ध्येय सूक्ष्म और आत्मगत हो जाता है।

१३ जब मन बाह्य आलम्बन से शून्य होकर केवल आत्मपरिणत हो जाता है, तव उसे निरुद्ध कहा जाता है।

१४ यह भूमिका वीतराग को प्राप्त होती है।

१५ इसमे सहज आनन्द प्रकट हो जाता है।

मन की छह अवस्थाएं

मन चेतना की वह अवस्था है जो बाहरी वातावरण और वृत्तियो से प्रभावित होता है। उसकी चचलता सहज नही है किन्तु बाह्य वातावरण और वृत्ति के योग से निष्पन्न है। चचलता का मूल हेतु वृत्ति है। मनुष्य जो प्रवृत्ति करता है, वह अल्पकालिक होती है। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती

है, पीछे उसकी स्मृति रह जाती है। चचलता का एक हेतु स्मृति है।

मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है। वह मन ही मन भविष्य का स्वप्न सजोता रहता है। वे स्वप्न मन मे चचलता उत्पन्न करते है। चचलता का एक हेतु कल्पना है।

मनुष्य इन्द्रियो के माध्यम से बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क करता है। यह वाह्य जगत् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमय है। वह मन के अनुकूल और प्रतिकूल दोनो प्रकार का है। अनुकूल के प्रति आसक्ति और प्रतिकूल के प्रति द्वेप होता है। ये आसक्ति और द्वेष मन की चचलता के वर्तमान हेतु है।

इस प्रकार स्मृति, कल्पना तथा आसक्ति और द्वेष—ये चारो आन्तरिक वृत्तिया मन को चचल करती रहती है। मन की स्थिरता का अर्थ है स्मृति का निरोध, कल्पना का निरोध, आसक्ति का निरोध और द्वेष का निरोध। मन की स्थिरता का अभ्यास क्रम है—स्मृति की शुद्धि, कल्पना की शुद्धि, आसक्ति की शुद्धि और द्वेप की शुद्धि।

जव आसक्ति और द्वेप तीव्रतम होते है तब दृष्टि और चारित्र दोनो विकारग्रस्त हो जाते है। उस स्थिति मे मन का क्षोभ प्रबल हो जाता है।

प्रारम्भ मे मन को एक स्मृति की परम्परा मे लगाने का अभ्यास किया जाए। इससे मन की गति एक प्रवाह मे हो जाती है। ऊपर से ऊपर उभरने वाली स्मृतिया और कल्पनाए रुक जाती है। एक स्मृति की अविच्छिन्न धारा का अभ्यास हो जाने पर फिर कुम्भक का अभ्यास किया जाए। उसमे स्मृति और कल्पना का निरोध हो जाता है। ध्येय के साथ तादात्म्य होने पर सहज ही कुम्भक हो जाता है।

अनासक्ति के लिए अनित्य और एकत्व भावना का अभ्यास किया जाता है। द्वेप-निवृत्ति के लिए आत्मौपम्य की भावना या प्रेम का विकास किया जाए। इस प्रकार समुचित साधनो के द्वारा मन की चचलता के कारण-भूत तत्त्वो का निरोध किया जा सकता है।

मूढ अवस्था मे आसक्ति और द्वेष बहुत प्रबल होते है। मूढ अवस्था का मन बाह्य जगत् और परिस्थिति का प्रतिबिम्व लेता रहता है इसलिए वह एकाग्र या स्थिर होने की दिशा मे गति नही कर पाता।

मूढ अवस्था की भूमिका पार कर लेने पर व्यक्ति के मन मे भीतर

की ओर झाकने की भावना जागृत होती है। वह इस भावना की पूर्ति के लिए अन्तर्निरीक्षण अर्थात् ध्यान का प्रयोग प्रारम्भ करता है। किन्तु यह प्रयोग एक श्वास मे ही सफल नही हो जाता हे। इसकी सफलता के लिए इसे बहुत लम्बी साधना व प्रतीक्षा करनी पडती है। जव वह अन्तर्निरीक्षण का प्रारम्भ करता है, तब मन जो पहले शान्त-सा प्रतीत होता था और अधिक चंचल हो जाता है। मन को इधर-उधर चक्कर लगाते देख ध्याता के मन में विकल्प उठता है कि वह ध्यान करके एक शान्त सर्प की पूछ पर पग रख लेता है या सोये सिंह को ललकार लेता है। किन्तु यह घवराने की स्थिति नही है। यह मन की स्थिरता की ओर वढने वाला पहला चरण है। आपने अनुभव किया होगा कि जमे हुए कूडे-करकट के ढेर मे दुर्गन्ध नही आती किन्तु उसे साफ करने के लिए आप खोदेंगे, उस समय दुर्गन्ध फूट पड़ेगी। यह शोधन का पहला चरण है। किसी व्यक्ति के पेट मे मल संचित है, उसे सामान्यत. कष्ट का अनुभव नही होता किन्तु जव वस्ति (ऐनीमा) के द्वारा मल का शोधन किया जाता है, तव वायु कुपित हो जाता है, पीडा भी बढ़ जाती है किन्तु वह प्रकोप और पीडा शोधन की प्रक्रिया का प्रथम संकेत है। ठीक इसी प्रकार ध्यान के प्रारम्भ-काल मे जो मन की चंचलता बढ़ती है, वह ध्यान की दिशा मे उठने वाला पहला पग है।

प्रारम्भ मे कुछ समय तक ध्याता ध्यान करने की मुद्रा मे वैठ जाता है किन्तु अन्तर्निरीक्षण की स्थिति का उसे कोई अनुभव नहीं होता। किसी के लिए यह स्थिति थोड़े समय के लिए होती है और किसी-किसी के लिए लम्वे समय तक चली जाती है। जो इस स्थिति से घवराकर अन्तर्निरीक्षण के अभ्यास को छोड देता है वह बीच मे ही रुक जाता है और जो इस स्थिति मे घवराता नही है वह अगली भूमिकाओ मे पहुंच जाता है।

विक्षिप्त की अगली भूमिका सन्धि की है। इस भूमिका मे ध्याता का मन अन्तर्निरीक्षण का अनुभव कर लेता है, यद्यपि वह उसमे लम्वे समय तक टिक नही पाता। अन्तर्निरीक्षण करते-करते फिर वाहर लौट आता है। फिर अन्तर्निरीक्षण का प्रयत्न करता है और फिर वाहर लौट आता है। किन्तु इस भूमिका मे एक बडा लाभ यह होता है कि अन्तर्निरीक्षण का जो द्वार बन्द था, वह खुल जाता है।

अन्तर्निरीक्षण का अभ्यास बढते-बढते मन एक विषय पर स्थिर रहने

लग जाता है। इस भूमिका मे ध्येय के साथ ध्याता का श्लेष हो जाता है। जिस प्रकार गोद से दो कागज चिपक जाते है, उसी प्रकार ध्याता का ध्येय के साथ चिपकाव हो जाता है किन्तु चिपके हुए दो कागज आखिर दो ही रहते है। उनमे एकात्मकता नही होती।

स्थिरता का अभ्यास क्रमशः बढ़ता है। उसकी वृद्धि एक दिन तन्मयता या लीनता के बिन्दु तक पहुच जाती है। यह मन की पांचवीं अवस्था है। पानी दूध मे मिलकर जैसे अपना अस्तित्व खो देता है, वैसे ही इस भूमिका मे ध्याता ध्येय में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। यह स्थिति पहले ही चरण मे प्राप्त नही होती किन्तु पूर्वोक्त क्रम से निरन्तर आगे बढ़ते रहने से एक दिन यह स्थिति अवश्य प्राप्त हो जाती है।.

पांचवी भूमिका मे मन की स्थिरता शिखर तक पहुंच जाती है। किन्तु उसका (मन का) अस्तित्व या उसकी गति समाप्त नहीं होती। ध्याता ध्येय मे लीन होकर कुछ समय के लिए जैसे अपने उपलब्ध अस्तित्व को भुला देता है किन्तु ध्येय की स्मृति उसे बराबर बनी रहती है। छठी भूमिका मे वह ध्येय की स्मृति भी समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि मन का अस्तित्व या उसकी गतिक्रिया समाप्त हो जाती है। यह निरालम्बन ध्यान या सहज चैतन्य के उदय की भूमिका है। इसमें प्रत्यक्षानुभूति प्रबल हो जाती है, इसलिए इन्द्रिय और मन जो परोक्षानुभूति के माध्यम है, अर्थहीन बन जाते है—समाप्त हो जाते हैं।

चैतन्य और आनन्द का स्वाभाविक सम्बन्ध है। जहां चैतन्य है, वहा आनन्द है और जहा आनन्द है, वहां चैतन्य है। इन दोनों मे से एक को पृथक् नही किया जा सकता। हर मनुष्य के भीतर जैसे चैतन्य का अजस्र प्रवाह है वैसे ही आनन्द का भी अजस्र प्रवाह है किन्तु मन की चचलता के कारण उसकी अनुभूति निरन्तर नही होती।

कोई आदमी कुछ कहता है, उस समय यदि हमारा मन चंचल होता है तो हम उसकी बात को सुन ही नही पाते और यदि सुन पाते है तो उसे पूरी तरह पकड़ नही पाते। ठीक इसी प्रकार मन की चचलता के कारण अपने भीतर बहने वाले आनन्द के प्रवाह का हम स्पर्श नही कर पाते। जिस भूमिका मे मन थोडा स्थिर होता है, उस समय आनन्द की

हल्की-सी अनुभूति हो जाती है। जैसे-जैसे मन की स्थिरता की मात्रा वढती है, वैसे-वैसे आनन्दानुभूति की मात्रा वढती जाती है। मन का निरोध होने पर सहज आनन्द का साक्षात्कार हो जाता है।

मन की दूसरी और तीसरी कक्षा मे विकल्पो (कल्पनाओं) का सिलसिला चालू रहता है। अत मन दूसरी-दूसरी चीजो मे अटका रहता है। फलस्वरूप उस समय हम सहज चेतना के स्तर पर नही होते। उस समय जो आनन्द का अनुभव होता है, वह मन की स्थिरता के कारण अन्त स्रावी नलिकाओं मे होने वाले अन्त स्राव से होता है।

चौथी और पाचवी कक्षा मे विकल्पो का सिलसिला नही रहता। हमारा मन एक ही विकल्प पर स्थिर हो जाता है। हमारे मस्तिष्क की सुखानुभूति की ग्रन्थि तथा अन्त स्रावी नलिकाओ पर उसका अधिक प्रभाव होता है। फलस्वरूप आनन्द की अनुभूति अधिक होती है।

निरोध की कक्षा मे सहज आनन्द के साथ साक्षात् सम्पर्क हो जाता है। उस पर शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव नही होता, इसलिए वह चिरस्थायी होता है।

पहली कक्षाओ मे सहज आनन्द की अनुभूति नही होती है, ऐसी वात नही है किन्तु उसकी पूर्ण अनुभूति निरोध की कक्षा मे होती है। इसीलिए पहली कक्षाओ मे शारीरिक परिवर्तन से होने वाली आनन्दानुभूति की मुख्य रूप से चर्चा की गई है। वैसे तो किसी पौद्गलिक सम्पर्क के विना आनन्द की अनुभूति होती है, उसमे सहज आनन्द का प्रतिविम्व या प्रभाव रहता ही है।

१६ **ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥**

१७. **श्रद्धाप्रकर्षेण ॥**

१८ **शिथिलीकरणेन ॥**

१९ **संकल्पनिरोधेन ॥**

२० **ध्यानेन च ॥**

२१ **गुरूपदेश-प्रयत्नवाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः ॥**

१६. आत्मज्ञान और वैराग्य से मन का निरोध होता है। आत्मज्ञान चैतन्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। जब हमारे चैतन्य का प्रवाह अन्तर्मुख होता है तव मन की कल्पनाए और स्मृतिया निरुद्ध

हो जाती है। इसी प्रकार वह पदार्थो व वृत्तो के प्रति अनासक्त होता है, तव उसकी चचलता छूट हाती है।

१७ मन के निरोध का एक हेतु श्रद्धा का प्रकर्ष है। वह ध्येय के प्रति अत्यन्त निष्ठाशील व समर्पित होकर निरुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान, वैराग्य और श्रद्धा-प्रकर्ष—मन की स्थिरता के ये तीनो हेतु आन्तरिक है।

१८. काय का शिथिलीकरण भी मन के निरोध का साधन है। काय की चचलता मन की चंचलता को बढाती है। मन की स्थिरता के लिए शरीर की स्थिरता आवश्यक है।

१६. सकल्पो का निरोध करने से भी मन निरुद्ध होता है। मन कल्पनाओ से भरा रहता है तब क्रियात्मक शक्ति का विकास नही होता। करणीय कल्पना का मन पर भार न हो, वह खाली रहे तभी उसकी शक्ति केन्द्रित होती है।

२० मनोनिरोध का सबसे बडा साधन है—ध्यान।
शिथिलीकरण, सकल्प-निरोध और ध्यान—मन की स्थिरता के ये तीनो हेतु अभ्यासात्मक है।

२१. गुरु के उपदेश—साधना के रहस्यो का प्रशिक्षण और प्रयत्न की वहुलता—बार-बार अभ्यास करने से उक्त साधनो की उपलव्धि हो जाती है।

मनोनिरोध के साधन

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—यह मन एक चपल घोडा है। वह चलते-चलते उन्मार्ग की ओर भी चला जाता है। आप उसका निग्रह कैसे करते है ?[1]

गौतम ने कहा—मैने उस घोडे को खुला नही छोड रखा है। उसकी लगाम मेरे हाथ मे है।[2]

वह लगाम क्या है ? ज्ञान, वुद्धि या विवेक लगाम है। वह जिसके हाथ मे होती है, वह उस घोडे पर नियत्रण पा लेता है।

---

१ उत्तराध्ययन, २३/५५

२ वही, २३/५६

इस सवाद मे मन को स्थिर करने का जो उपाय वताया गया है, वह ज्ञानयोग है। यह मन के अनुशासन का प्रथम हेतु है। यह हर मनुष्य के लिए कठिन है। दूसरी वात यह है कि सवकी रुचि भी समान नहीं है। कोई आदमी ज्ञान-प्रधान होता है तो कोई श्रद्धा-प्रधान होता है और कोई क्रिया-प्रधान होता है।

यहा ज्ञान का अर्थ सव कुछ जानना नही है। किन्तु अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति है। वैराग्य उसका परिणाम है। अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग होने का नाम ही विराग है। जव तक अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव नही होता, तव तक वाह्य वस्तुओ के प्रति मन में तृष्णा रहती है। उसके द्वारा उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। आत्मानुभूति होने पर यह स्थिति उलट जाती है। अनुराग वस्तुओ से हटकर अपने प्रति हो जाता है। इसका अर्थ है कि उनके प्रति विराग हो जाता है।

सकल्प, विकल्प और इच्छा—ये सव मन के कार्य हैं। वाह्य वस्तुओ के प्रति जितनी कल्पना और इच्छा होती है, मन उतना ही चचल रहता है। मन की गति को आत्मा की ओर मोड देने पर उसकी कल्पना और इच्छा-शक्ति क्षीण हो जाती है। इसी को हम कहते है वैराग्य के द्वारा मन का निरोध।

वैराग्य ज्ञानयोग का ही प्रकार है। आत्मज्ञान की निर्मलता वैराग्य का रूप ले लेती है। कोई भी आदमी ऐसा नही हो सकता जो आत्मज्ञानी नही है और विरक्त है। ऐसा भी कोई आदमी नही हो सकता जो विरक्त नही है और आत्मज्ञानी है। जो आत्मज्ञानी होगा वह विरक्त होगा और जो विरक्त होगा वह आत्मज्ञानी होगा, यह निश्चित व्याप्ति है।

आत्मज्ञान के दो हेतु है—निसर्ग और अधिगम। कुछ लोग निसर्ग से ही आत्मज्ञानी होते है। अधिगम का अर्थ है गुरु का उपदेश। गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले नैसर्गिक आत्मज्ञानी की अपेक्षा अधिक होते है। नैसर्गिक आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करते है किन्तु गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान की दिशा मे चलने वाले श्रद्धा के प्रकर्ष से मानसिक एकाग्रता साध लेते है। श्रद्धा के

प्रकर्ष मे विश्वास केन्द्रित हो जाता है और मन की तरलता सघनता मे बदल जाती है।

ज्ञान और वैराग्य चैतन्य की स्वाभाविक क्रियाए है। श्रद्धा का प्रकर्ष प्रेरणा से प्राप्त क्रिया है। मन की एकाग्रता केवल इन्ही से नही होती है। वह शरीरसंयम से भी हो सकती है। शरीर की चचलता अर्थात् मन की चचलता। शरीर की स्थिरता अर्थात् मन की स्थिरता। शरीर की स्थिरता शिथिलीकरण के द्वारा प्राप्त होती है। शिथिलीकरण की पूरी प्रक्रिया कायोत्सर्ग के प्रकरण मे दी जाएगी।

शरीर की शिथिलता संकल्प और श्वास-सयम पर निर्भर है। आप पद्मासन या सुखासन मे बैठकर शरीर को ढीला छोड दीजिए और शरीर की शिथिलता का सकल्प कीजिए। शरीर शिथिल हो रहा है, ऐसा अनुभव कीजिए। अनुभव जितना तीव्र होगा, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

सकल्प की साधना के पश्चात् श्वास-संयम का अभ्यास कीजिए। यहा श्वास-सयम से मेरा अभिप्राय प्राण को सूक्ष्म करने से है। हम जो श्वास लेते है, वह स्थूल प्राण है। श्वास लेने की जो शक्ति (श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति) है, वह सूक्ष्म प्राण है। नाभि और नासाग्र पर दो-चार क्षण के लिए मन को एकाग्र कीजिए। सहज ही श्वास-सयम हो जाएगा। श्वास की मन्दता या सूक्ष्मता से शरीर की क्रियाए सूक्ष्म हो जाती है और शिथिलीकरण सध जाता है। शरीर की स्थिरता और श्वास की स्थिरता होने पर मन का निरोध सहज सरल हो जाता है।

मन की प्रवृत्ति सकल्प और विकल्प के द्वारा बढती है। उसका निरोध होने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। सकल्प-निरोध और ध्यान में भिन्नता नही है। सकल्प का निरोध किए बिना ध्यान नही होता और जब ध्यान होता है, तब सकल्प का निरोध होता ही है। फिर भी यहां संकल्प-निरोध को मानसिक स्थिरता का ध्यान से भिन्न साधन माना है। उसका एक विशेष हेतु है। उसके द्वारा एक विशेष प्रक्रिया का सूचन किया गया है। सकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। लम्बे समय तक उसे रोकने में कठिनाई होती है। इसलिए प्रारम्भ मे उस प्रवाह की निरन्तरता में विच्छेद डालने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रक्रिया को

आकस्मिक कुम्भक के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। आप पूरक और रेचन न करे। एक क्षण के लिए कुम्भक करे, वह भी आकस्मिक ढग से। जैसे कोई बाधा आने पर चलता पैर अकस्मात् रुक जाता है, वैसे ही श्वास को हठात् बन्द कर लीजिए। क्षण-भर के लिए कुम्भक की मुद्रा मे रहिए। जिस क्षण कुम्भक होगा, उस क्षण मे सकल्प भी उसी प्रकार आकस्मिक ढग से बन्द हो जाएगा। इस क्रिया को पाच-दस मिनट के बाद फिर दोहराए। इस प्रकार वार-बार अभ्यास करने से सकल्प का प्रवाह स्खलित हो जाता है। लम्बे समय की एकाग्रता के लिए यह क्रिया पृष्ठ-भूमि का काम करती है।

मानसिक निरोध का प्रवलतम हेतु ध्यान है। जब हम किसी एक विषय पर स्थिर रहने का अभ्यास करते है, तब मन की चचलता को एक स्थान मे रोकने का प्रयत्न करते है। उच्छृखलता से विचरने वाली मन की चचलता का क्षेत्र सीमित हो जाता है, हजारो-हजारो विषयो से हटकर एक विषय मे सिमट जाता है, यह मन की चचलता का गतिभग है। इसकी बार-बार पुनरावृत्ति होने पर वह गतिभग गतिनिरोध के रूप मे बदल जाता है। गौतम ने पूछा—'भन्ते । एक आलम्बन पर मन का सन्निवेश करने से क्या लाभ होता है ?' भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम । उससे चित्त का निरोध हो जाता है।' [1]

चित्त-निरोध की प्रक्रिया गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है और प्रयत्न की बहुलता से उसकी सिद्धि होती है। मन की स्थिरता जान लेने मात्र से नही होती। इसके लिए अनेक प्रयत्न करने होते है, लम्बे समय तक निरन्तर और श्रद्धा के साथ। कोई व्यक्ति मानसिक स्थिरता का अभ्यास करता है, उसमे पूरा समय नही लगाता अर्थात् तीन घटे का समय नही लगाता, उसे पूर्ण सफलता प्राप्त नही होती। थोडा समय लगाने से कुछ लाभ अवश्य होता है किन्तु कोई भी आदमी स्वल्प प्रयत्न से शिखर तक नहीं पहुचता।

जिसका चित्त अनवस्थित होता है—कभी स्थिरता का अभ्यास करता है, कभी नही करता, इस प्रकार कभी-कभी अभ्यास करने वाला भी सफलता से वचित रहता है। लम्बे समय तक और निरन्तर अभ्यास

१ उत्तराध्ययन, २६/२६

करने वाला भी श्रद्धा के बिना सफल नही हो सकता। श्रद्धा का अर्थ है, तन्मय हो जाना; ध्येय के प्रति समर्पित हो जाना या उसमे विलीन हो जाना।

गुरु का उपदेश–ध्यान की प्रक्रिया की शिक्षा, श्रद्धा, दीर्घकालीन और निरन्तर अभ्यास–इस पूर्ण सामग्री के प्राप्त होने पर मानसिक एकाग्रता या निरोध की साधना सरल हो जाती है।

तीसरा प्रकरण

१. एकाग्रे मनःसन्निवेशन योगनिरोधो वा ध्यानम् ॥

१ आलम्वन पर मन को टिकाना अथवा यांग (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति) का निरोध करना ध्यान है।

ध्यान

मन की दो अवस्थाएं है—गत्यात्मक और स्थित्यात्मक। गत्यात्मक अवस्था को मन और स्थित्यात्मक अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन सकल्पो से भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतिया उभरने लग जाती है। सहज प्रश्न होता है कि इसका क्या कारण है ? जव मन की प्रवृत्ति होती है तव उतनी चचलता नही होती जितनी उसको स्थिर करने का प्रयत्न करने पर होती है। हम गहराई मे जाए तो पाएगे कि चेतना चचल नही होती। मन चेतना का एक अश है। वह भला कैसे चंचल हो सकता है ? वह वृत्तियो के चाप से चचल होता है। वृत्तियों का जितना चाप होता है, उतना ही वह चचल होता है और वृत्तिया जितनी शान्त या क्षीण होती है, उतना ही वह स्थिर होता है। यही ध्यान होता है। तालाव का जल स्थिर पडा है। उसमे एक ढेला फेका और वह चंचल हो गया। यह चचलता स्वाभाविक नही, किन्तु बाह्य संपर्क से उत्पन्न है। ठीक इसी प्रकार मन की चचलता भी स्वाभाविक नही, किन्तु वृत्तियो के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। मन की चचलता एक परिणाम है। वह हेतु नहीं है। उसका हेतु है—वृत्तियो का जागरण।

वृत्तिया दो प्रकार की होती है—सत् और असत्। असत् से सत् की ओर जाना पहला चरण है और दूसरा चरण है असत् को क्षीण करना। असत् मे मन चचल रहता है, सत् मे शान्त और असत् को क्षीण करने

पर वह अतिमात्र शान्त हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को मनोगुप्ति कहा जाता है। गुप्त मन की तीन अवस्थाएं है।

१. कल्पना-विमुक्त
२. समत्व-प्रतिष्ठित
३. आत्माराम

विमुक्त कल्पनाजाल, समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।
आत्माराम मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता॥

कल्पना-विमुक्त

मन को एक साथ खाली नहीं किया जा सकता। उसे असत् कल्पनाओ से मुक्त करने के लिए सत् कल्पनाओ का आलम्बन लिया जाता है। इन कल्पनाओ का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य मे मिलता है।

कल्पना करे कि हृदय कमल है। उसके चार पत्र है। बीच मे एक कर्णिका है। चार पत्रो और कर्णिका पर क्रमशः अ, सि, आ, उ, सा लिखा हुआ है। प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है। यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाएं अपने आप विलीन हो जाएगी।

दो नासाग्र, दो आख, दो कान और एक मुख—ये सात रन्ध्र है। इन पर क्रमशः ण, मो, अ, र, ह, ता, ण—इस मन्त्र-जप के साथ ध्यान किया जाए। वर्ण और स्थान के ध्यान साथ-साथ हो। इससे मन शेष कल्पनाओ से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सैकड़ो उपाय साधना की लम्बी परम्पराओ में प्राप्त होते है।

समत्व-प्रतिष्ठित

वृत्तियां दबी रहती है। वे निमित्त का योग पाकर उत्तेजित होती है और उभर आती है। उनकी उत्तेजना का बहुत वडा निमित्त है विषमता। जव-जव मन मे विषमता के भाव आते है, तब-तब वह चचल, अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्ति ने मेरा सम्मान किया है और अमुक ने अपमान। सम्मान और अपमान की स्मृति होते ही मन चचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान दोनो को ग्रहण

नही करता तथा दोनो को आत्मा से बाह्य मानता है, उसका मन समता मे प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमान की स्मृति ही नही होती तब वह उसके कारण चचल, अधीर या अशान्त कैसे हो सकता है ? इस प्रकार राग-द्वेप जनित जितनी विपमताए है, उनका ग्रहण नही करने वाला मन समता मे प्रतिष्ठित होता है।

आत्माराम

यह गुप्त मन की तीसरी अवस्था है। इसमे चेतना के अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नही होता। मन आत्मा मे विलीन हो जाता है। वह कपाय (क्रोध आदि के रगों) से मुक्त होकर शुद्धोपयोग (शुद्ध चेतना) मे परिणत हो जाता है। डस स्थिति को डन शब्दो मे भी समझाया जा सकता है कि यहा शुद्ध चेतना या चैत्य पुरुष से भिन्न मन का कोई अस्तित्व ही नही रहता।

सस्कृत की एक धातु है—'ध्यै चिन्तायाम्'। ध्यान शब्द उससे निष्पन्न हुआ है। उस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ होता है-चिन्तन।

चिन्तन का प्रवाह चचलता की ओर जाता है और ध्यान का प्रवाह स्थिरता की ओर। डसी आधार पर ध्यान की एक परिभापा मिलती है—'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्।' एक आलम्बन पर चिन्तन को रोके रखना ध्यान है। हमारा चिन्तन अनेक विपयो पर चलता रहता है, वह ध्यान नही है। किन्तु वह चिन्तन एक विपय पर स्थिर हो जाता है, वह ध्यान है।

चिन्तन मे एक सतति का होना आवश्यक नही है किन्तु ध्यान मे एक सतति का होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। डसी आशय को लक्ष्य मे रखकर ध्यान की एक परिभापा की गई है—'विपयान्तरास्पर्शवती चित्तसन्ततिर्ध्यानम्'—चित्त की वह सतति (प्रवाह) जो अवलम्बित विषय के अतिरिक्त दूसरे विपयो का स्पर्श नही करती, ध्यान कहलाती है। इससे फलित होता है कि ध्यान सामान्य चिन्तन नही है किन्तु एक ही विपय पर जो चितन की धारा प्रवहमान होती है, वह ध्यान है। जल की एक वूद गिरती है और टूट जाती है। दूसरी बूद गिरती है और फिर क्रमभग हो जाता है। इस प्रकार क्रमभग कर गिरने वाली वूंदो से ध्यान की तुलना

नही की जा सकती। ध्यान की तुलना उस धार से की जा सकती है, जिसमे क्रमभग नही होता।

उक्त परिभाषाओ से फलित होता है कि ध्यान स्थिरता की दिशा मे वढने वाला चिंतन है। इसी आशय को 'एकाग्रे मन सन्निवेशन' के द्वारा व्यक्त किया गया है।

प्रश्न– ज्ञान और ध्यान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर–ध्यान ज्ञान की ही एक अवस्था है–'व्यग्र, ज्ञान एकाग्र ध्यानं'–जो चंचल है, वह ज्ञान और स्थिर ज्ञान ही ध्यान है। ध्यानशतक मे इसी आशय को स्पष्ट किया गया है–ज थिरमज्झवसाण झाण त चलतय चित्त–जो स्थिर चैतन्य है, वह ध्यान है और जो चल चैतन्य है, वह चित्त है। बर्फ को जल से भिन्न नही कहा जा सकता। जल तरल होता है तब जल कहलाता है। वही घनीभूत होकर वर्फ कहलाता है। ज्ञान और ध्यान की यही स्थिति है।

प्रश्न–जप और ध्यान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर–जप मे शब्द का उच्चारण होता है। ध्यान मे शब्द का उच्चारण नही होता है।

प्रश्न–मानसिक जप मे शब्द का उच्चारण नही होता, क्या वह भी ध्यान है ?

उत्तर–यह ठीक है कि उसमे शब्द का उच्चारण नही होता किन्तु उसका पुनरावर्तन होता है। ध्यान मे न शब्द का उच्चारण होता है, न पुनरावर्तन। सामान्यतया जप ध्यान नहीं है–किन्तु कभी-कभी एकाग्रता की मात्रा बढ जाने पर वह ध्यान से अभिन्न हो जाता है।

प्रश्न–यदि पुनरावर्तन नही होता तो ध्यान मे क्या किया जाता है ?

उत्तर–ध्यान मे ध्येय को देखा जाता है। वास्तव मे ध्यान का चितन अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है। उसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है–अन्तर्निरीक्षण, मानसिक चक्षु से देखना–साक्षात्कार करना। ध्यानकाल मे हम जिसका आलम्वन ले, वह मानसिक चक्षु से आलेखित चित्र की भाति स्पष्ट दीखने लग जाए तब ध्यान निष्पन्न होता है। हम ध्यान करने के लिए वैठते है तब किसी शब्द या आकृति का आलम्बन लेते है। आलम्बित शब्द और आकृति जब तक मानसिक चक्षु से स्पष्टत दीखने नही लग जाती, तब तक धारणा

की स्थिति चलती है, ध्यान की स्थिति प्राप्त नही होती। जब आलम्बित विषय साक्षात् हो जाता है तब धारणा ध्यान के बिन्दु पर पहुच जाती है।

एक आलम्बन पर मन को टिकाना ध्यान का प्रारम्भ है, पूर्णता नही। उसकी पूर्णता निरोध अवस्था मे प्राप्त होती है।

१ मन का निरोध (मन का सवर)
२ वाणी का निरोध (वाणी का सवर)
३ शरीर का निरोध (शरीर का सवर)
४ श्वास का निरोध (श्वास का संवर)

जब ये चारो निरुद्ध हो जाते है तब ध्यान की वास्तविक कक्षा प्राप्त होती है। यही जैन परिभाषा मे सवरयोग है।

प्रश्न—एकाग्रता या स्थिरता और निरोध मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—दीया हवा मे पडा है। उस समय उसकी लौ बहुत चंचल होती है। उसे कमरे के भीतर निर्वात प्रदेश मे रख देने पर उसकी लौ स्थिर—शान्त हो जाती है। तेल या घी के समाप्त होने पर दीया बुझ जाता है, लौ समाप्त हो जाती है। दीये की पहली अवस्था चचल है, दूसरी स्थिर और तीसरी निरुद्ध। ज्ञान की तुलना हवा मे रखे हुए दीये से की जा सकती है। एकाग्र-ध्यान की तुलना निष्प्रकम्प दीये से हो सकती है। निरोधात्मक ध्यान बुझे हुए दीये जैसा होता है। उसमे मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। हमारा चैतन्य शाश्वत है। मन शाश्वत नही है। मन मन्यमान होता है अर्थात् वर्तमानकाल मे होता है। मनन से पहले क्षण मे मन नही होता और उसके उत्तरक्षण मे भी मन नही होता। इसका आशय यह है कि मन मननकाल मे उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है, उसके अस्तित्व का विलय भी होता है। निरोधात्मक ध्यान की प्रक्रिया यही है कि अनुत्पन्न मन को उत्पन्न नही करना। मन को उत्पन्न न करने का अर्थ है—कल्पना, स्मृति और इच्छा से मुक्त हो जाना।

प्रश्न—मन का निरोध, निद्रा और मूर्च्छा क्या एक नही है ?

उत्तर—निद्रा मे मन का निरोध नही होता। उसमे स्थूल मन निष्क्रिय हो जाता है किन्तु सूक्ष्म मन (अवचेतन मन) काम करता रहता है। इसलिए निद्रा मानसिक निरोध की स्थिति नहीं है।

मूर्च्छा मे आत्मबोध विस्मृत होता है किन्तु मनोनिरोध की अवस्था

मे आत्मवोध अधिक तीव्र हो जाता है। ध्यान का अर्थ ही है—आत्मानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति। इसलिए ध्यान और मूर्च्छा की दिशा एक नहीं है। मूर्च्छा मे बाह्य बोध और आन्तरिक वोध दोनों के प्रति शून्यता होती है। ध्यान में बाह्य बोध के प्रति शून्यता होती है किन्तु आन्तरिक वोध अधिक जागरूक हो जाता है।

प्रश्न—कायोत्सर्ग और ध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—शरीर की चंचलता का विसर्जन किए विना मन की चंचलता विसर्जित नहीं होती। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग ध्यान का आधार है। कायोत्सर्ग मे शारीरिक स्थिरता की प्रधानता होती है जबकि ध्यान में मानसिक स्थिरता की।

ध्यान का एक अर्थ केवल स्थिरता किया गया है। उस परिभाषा के आधार पर हमारे आचार्यो ने ध्यान के तीन प्रकार वतलाए हैं।

१. कायिक ध्यान—शरीर की चंचलता का विसर्जन, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति।
२. वाचिक ध्यान—वाणी की चंचलता का विसर्जन, मौन या वचोगुप्ति।
३. मानसिक ध्यान—मन की चंचलता का विसर्जन, मनोगुप्ति।

इन भेदो के आधार पर ध्यान की परिभाषा यह हो सकती है—'कायवाङ् मनसां स्थिरीकरणं ध्यानम्।' श्वास की स्थिरता शरीर की स्थिरता से सलग्न है।

प्रश्न—समाधि और ध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ध्यान से मन का समाधान होता है, इसलिए ध्यान स्वयं समाधि है। किन्तु परिभाषा की दृष्टि से समाधि ध्यान की उच्चतम स्थिति है। ध्यान की जिस भूमिका में मन पूर्णरूपेण निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य का जागरण रहता है, उस स्थिति का नाम समाधि है। महर्षि पतंजलि के अनुसार वह योग का आठवां अंग है। जैन वाङ्मय के अनुसार वह ध्यान का ही एक विशिष्ट रूप है।

ध्यान की विधि

ध्यान करने से पहले शरीर को स्थिर करें। वह बिल्कुल न हिले-डुले।

फिर दो-तीन मिनट उसे सूचना दे कि वह शिथिल हो रहा है। फिर यह सूचना दे कि श्वास शिथिल हो रहा है। शरीर और श्वास दोनो शिथिल हो जाए तब यह सूचना दे कि मन शिथिल हो रहा है। जव मन शिथिल हो रहा हो, उस समय या तो चितन को सर्वथा वन्द कर दे, वैसा न कर सके तो अर्हत्, सिद्ध आदि जो भी इष्ट हो, उस शब्द को याद कर उसके अर्थ पर मन को एकाग्र करे। जो ध्येय है उसे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करे।

ध्यान करने वाला पूर्व या उत्तर की ओर मुह करके बैठे। आखे या तो मुदी हुई हो या अधखुली। वे यदि खुली हो तो मानसिक कल्पना से उन्हे वही नासाग्र पर केन्द्रित किया जाए।

ध्यान-काल मे आसन कष्टदायी नही किन्तु सहज होना चाहिए। ध्यान के लिए सामान्यत पद्मासन, पर्यकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाये गए है। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए, ऐसा आग्रह नही है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—जिस आसन मे बैठने पर मन निश्चल हो, वही आसन करणीय है।

येन केन सुखासीना, विद्ध्युर्निश्चल मनः।
तत्तदेव विधेय स्यात्, मुनिभिर्वन्धुरासनम्॥ ज्ञानार्णव॥

ध्यान तदात्मकता

ध्यान करने वाले को तदात्मक होने का अभ्यास डालना चाहिए अर्थात् जिसका ध्यान करे, उसके साथ एकात्मकता स्थापित करनी चाहिए। क्रिया के साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो वोले उसमे मन का योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जप, भावना या स्वाध्याय मे तन्मय होने पर एकाग्रता की मात्रा ध्यान के विन्दु तक पहुच जाती है। उसमे वाणी का व्यापार होने पर भी एकाग्रता की उपयुक्त मात्रा के कारण वह वाचिक ध्यान कहलता है। जो करे उसमे मन का योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयता से जो किया जाता है वह सद्य· फलदायी होता है। ध्यान करने वाला ध्येय की सम्प्राप्ति के लिए अपने शरीर व मन को शून्य बना लेता है। ऐसा करने पर ध्येय और ध्याता मे एकात्मकता हो जाती है। इसी को

योगशास्त्र के आचार्यो ने एकीकरण, समरसी भाव, समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यान का फल

इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुराने जमाने की बात है। मगधदेश मे देवरापुर नाम का नगर था। वहा दो मित्र थे। एक का नाम राम था। वह वनिए का वेटा था। दूसरे का नाम नागदत्त था। वह ब्राह्मण का बेटा था। उन दोनो मे बहुत प्रेम था। वे सुख से रह रहे थे। एक दिन वहां राज्यविद्रोह हो गया। चारो ओर लूट मच गई। तव वे दोनो वहा से दौडे और दक्षिणापथ की ओर चले गए। एक बार वे दोनो काठ लाने के लिए जगल मे गए। वहां महावल नाम के साधु कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े थे। ध्यानलीन होने के कारण वे पर्वत की भांति अडोल थे। उन्होने साधु को देखा। वह जीवन मे पहला ही अवसर था। वे उन्हे अपलक देखते रहे। थोडी देर बाद एक-वडा-सा साप विल मे से निकला और सीधा साधु के पास जा पहुचा। उन्हे डसकर वापस विल मे घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खड़े थे। ध्यान से जरा भी विचलित नही हुए। उनके शरीर मे विष भी नही व्यापा। राम और नागदत्त को वहुत आश्चर्य हुआ। साधु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधु के पास गए, वन्दना की और बोले—भगवन् ! सांप ने आपको काटा तो आप पर असर नही हुआ ? आप इस प्रकार कायोत्सर्ग में रहते है, क्या आपको सर्दी-गर्मी से कष्ट नही होता ? साधु ने कहा—महानुभावो ! जो ध्यान-कोष्ठ मे स्थिर होता है, वह बाहरी स्थिति से प्रभावित नही होता। सर्दी-गर्मी आदि से बाधित नही होता, यह मेरा अनुभव है।

इस ध्यान-कोष्ठ मे शीत लहर का कोई असर नही होता और न तेज हवा से उद्वेलित अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है। भयकर कोलाहल वहा वाधा नही डाल सकता और साप आदि विषैले जन्तु वहा पीडा उत्पन्न नही कर सकते। इन शारीरिक कष्टो की क्या बात है, वहा मानसिक कप्ट भी नही पहुच पाते है। ईर्ष्या, विपाद, शोक आदि जितने भी मानसिक कष्ट है, वे सव ध्यानलीन व्यक्ति के सामने निर्वीर्य बन जाते है।

२ ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्यायभावना व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम् ॥
३ अल्पाहार ऊनोदरिका ॥
४ दुग्धादिरसानां परिहरणं रसपरित्यागः ॥
५ अशनत्याग उपवासः ॥

२ ऊनोदरिका, रस-परित्याग, उपवास, स्थान—आसन, मौन, प्रतिसलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये सब ध्यान के सहायक तत्त्व है।

३ ऊनोदरिका का अर्थ है—कम खाना, परिमित खाना, आंतो पर किंचित् भी भार न डालना।

४ यथोचित रीति से दूध आदि रसो का वर्जन करना रसपरित्याग है।

५. यथाशक्ति—मन आर्त्त न हो, वैसे अशन का त्याग करना उपवास है।

ध्यान और आहार

ध्यान का सम्बन्ध जितना मन से है, उतना ही शरीर से है। मस्तिष्क जितना भार-मुक्त होता है, उतना ही ध्यान अच्छा होता है। मस्तिष्क का भार-मुक्त होना आमाशय, पक्वाशय और मलाशय की शुद्धि पर निर्भर है। इनकी शुद्धि के लिए भोजन पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। जो आदमी भरपेट खाता है, वह ध्यान नहीं कर सकता। जो ध्यान करना चाहे उसके लिए पेट को हल्का रखना—कम खाना बहुत आवश्यक है।

आयुर्वेद के अनुसार भूख के चार भाग किए जाते है। दो भाग भोजन करना चाहिए, एक भाग पानी और एक भाग भोजन के बाद बनने वाली वायु के लिए छोड देना चाहिए। दो भाग खाना परिमित भोजन है। परिमित भोजन करना ऊनोदरिका की मर्यादा है।

भोजन के एक घटा बाद पानी पीने और वायु बनने पर पेट हल्का रहे, कोई भार प्रतीत न हो तो समझा जा सकता है कि भोजन परिमित हुआ है।

अधिक खाने वाले व्यक्ति का अपानवायु दूषित होता है। उसके मानसिक और बौद्धिक निर्मलता नही होती। बहुत खाने से पाचन ठीक नही होता। उससे वायु-विकार (गैस) बढ जाता है। मन की एकाग्रता के लिए वायु-विकार सभवत सबसे बडा विघ्न है। इन सब कारणो के आधार पर हम ध्यान और ऊनोदरिका का सम्बन्ध समझ सकते हैं।

प्रश्न—ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध और मधुर भोजन का विधान है, उस स्थिति मे रस-परित्याग कैसे आवश्यक हो सकता है ?

उत्तर—ध्यान के लिए वीर्य-शुद्धि या ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। दूध, घी आदि रसों का प्रचुर सेवन करने से वीर्य पर्याप्त मात्रा मे बढता है। वह कामवासना को उत्तेजित करता है। उससे मानसिक चचलता बढती है और वीर्य दोष उत्पन्न होते है। यदि वीर्य-सचित रहता है तो मन की चचलता बनी रहती है और यदि उसका विसर्जन किया जाता है तो उससे स्नायविक दुर्बलता बढती है। स्नायविक दुर्बलता वाले व्यक्ति के मन का सन्तुलन नहीं हो सकता। मानसिक सन्तुलन के अभाव मे ध्यान की कल्पना ही नही की जा सकती। इसीलिए रसो का प्रचुर मात्रा मे सेवन करना ध्यानाभ्यासी के लिए हितकर नही है।

रस-परित्याग का सम्बन्ध अस्वादवृत्ति से है। जिसका मन स्वाद-लोलुपता में अटका रहता है उसके लिए ध्यान करना बहुत कठिन है, ध्यानाभ्यास के लिए वैषयिक अनुवन्धो से मुक्त होना वहुत आवश्यक है। वैषयिक अनुबन्धो मे स्वाद का अनुबन्ध बहुत तीव्र होता है। उसके परिणामो पर विचार करने पर ध्यान और यथावकाश रस-परित्याग का सम्बन्धबोध सहज ही हो जाता है।

रस-परित्याग की निश्चित मर्यादा करना कठिन है। फिर भी उसके विषय मे कुछ रेखाए खीची जा सकती है—

१. ध्यानाभ्यासी के लिए अधिक मात्रा मे दही खाना उचित नही है। उससे शारीरिक और बौद्धिक जडता उत्पन्न होती है।
२. तली हुई चीजो से पाचन पर अनावश्यक भार पडता है, इससे वे भी हितकर नही है।

३ चीनी से अम्लता वढती है और रक्त मे गर्मी वढने के कारण कुछ उत्तेजना भी वढती हे। इसलिए चीनी का सयत प्रयोग ही हितकर हो सकता है।

४ दूध दिन-भर मे पाव या आधा सेर लिया जा सकता है किन्तु मस्तिष्क-सम्वन्धी कार्य के लिए उससे निष्पन्न होने वाली शक्ति की खपत हो तो।

५ वायु और पित्त के शमन के लिए एक या दो तोला घी लिया जा सकता है किन्तु उसकी अधिक मात्रा अपेक्षित नही है। घी सर्वाधिक वीर्यवर्धक वस्तु है। उसके अधिक सेवन का अर्थ है—अधिक वीर्य की उत्पत्ति और वीर्य के अधिक होने का अर्थ है वासना को उभारना। यह स्थिति ध्यान के लिए अनुकूल नही है।

जैन साधना-पद्धति मे दीर्घकालीन ध्यान को वहुत महत्त्व दिया गया है। तीन घटा ध्यान करना ध्यान की सामान्य काल-मर्यादा है। उसकी दीर्घकालीन मर्यादा है—कई दिनो या महीनो तक लगातार ध्यान करना। भगवान् महावीर ने सोलह दिन-रात तक निरन्तर ध्यान किया था। इस प्रकार का ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है जो भूख पर विजय पा लेता है।

केवल भूखा रहना अनशन नही है किन्तु ध्यान की साधना के लिए भूख पर विजय पा लेना अनशन है। यह शरीर को कष्ट देने की स्थिति नही है किन्तु आत्मानुभूति की गहराई में वैठकर सहज आनन्द का स्पर्श करने की स्थिति है।

भूखा रहने से शारीरिक और मानसिक ग्लानि न हो, स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न न आए तब तक उपवास किए जा सकते है। यही उपवास की मर्यादा है। सबकी शक्ति समान नही होती, इसलिए उसकी मर्यादा भी भिन्न-भिन्न होती है। दीर्घकालीन ध्यान के लिए उपवास करना स्वत प्राप्त है। अत· अनशन ध्यान की विशिष्ट साधना का सहायक तत्त्व है।

६ शरीरस्य स्थिरत्वापादनं स्थानम्॥

७ ऊर्ध्व-निषीदन-शयनभेदात् त्रिधा॥

८. समपाद-एकपाद-गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम् ॥
९. गोदोहिका-उत्कटुक-समपादपुता-गोनिषद्यिका-हस्तिशुण्डिका-पद्मवीर सुख-कुक्कुट-सिद्ध-भद्र-वज्र-मत्स्येन्द्र-पश्चिमोत्तान-महामुद्रासंप्रसारण-भूनमन-कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम् ॥
१०. दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व-ऊर्ध्वशयनलकुट-मत्स्यपवनमुक्त-भुजंग-धनुरादीनि-शयनस्थानम् ॥
११. सर्वांग शीर्षादीनि विपरीत क्रियापादकानि ॥

६ विधिवत् शरीर को स्थिर वनाकर बैठना स्थान—आसन कहलाता है। यह कायगुप्ति है।

७. स्थान तीन प्रकार के होते है—
१. ऊर्ध्व-स्थान
२. निपीदन-स्थान
३. शयन-स्थान।

८. खडे होकर किए जाने वाले स्थानो का नाम 'उर्ध्व-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये है—
१. समपाद
२. एकपाद
३ गृध्रोड्डीन
४ कायोत्सर्ग।

९. बैठकर किए जाने वाले स्थानो का नाम 'निषीदन स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये है—
१. गोदोहिका
२ उत्कटुकासन
३. समपादपुता
४. गोनिपद्यिका
५. हस्तिशुण्डिका
६. पद्मासन
७. वीरासन
८ सुखासन
९. कुक्कुटासन
१०. सिद्धासन
११. भद्रासन
१२ वज्रासन
१३. मत्स्येन्द्रासन
१४ पश्चिमोत्तानासन
१५ महामुद्रा
१६. सप्रसारणभूनमनासन
१७ कन्दपीडनासन।

१०. लेटकर किए जाने वाले स्थानो का नाम 'शयन-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये है—

१. दण्डायतशयन
२. आम्रकुब्जिकाशयन
३. उत्तानशयन
४. अवमस्तकशयन
५. एकपार्श्वशयन
६. ऊर्ध्वशयन
७ लकुटासन
८. मत्स्यासन
९. पवनमुक्तासन
१०. भुजंगासन
११. धनुरासन।

११. सर्वांगासन और शीर्षासन में विपरीतकरणी वाले स्थान है।

ध्यान और आसन

आसन साधना का एक अपरिहार्य अंग है। आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि जो व्यक्ति आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को नहीं जानता, वह जिनशासन को नहीं जानता। आसन-विजय का अर्थ है—एक आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास कर लेना।

महर्षि पतंजलि का अभिमत है कि आसन से द्वन्द्व पर विजय प्राप्त की जा सकती है। द्वन्द्व हैं—सर्दी गर्मी आदि। आसन से कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति विकसित होती है, इसलिए द्वन्द्व आसनकर्ता को पराजित नहीं कर सकते।

आसन के वर्ग

अपेक्षाभेद से आसनों के दो वर्ग होते हैं :

प्रथम वर्ग— १. खड़े होकर किए जाने वाले
२. बैठकर किए जाने वाले
३. लेटकर किए जाने वाले।

द्वितीय वर्ग—१. शरीरासन
२. ध्यानासन

खड़े होकर किए जाने वाले आसन

समपाद

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। गर्दन, पृष्ठवंश और पैर तक का सारा

शरीर सीधा और समरेखा मे रहे, इसका अभ्यास कीजिए। इसमे दोनो पैरों को सटा कर रखिए।

समय—कम से कम तीन मिनट और सुविधानुसार यह घटो तक किया जा सकता है।

फल—१. शारीरिक धातुओ का साम्य
२. शुद्ध रक्त का सचार
३. मानसिक एकाग्रता।

एकपाद

विधि—सीधे खडे हो जाइए। उक्त विधि के अनुसार शरीर के सव अवयवों को समरेखा मे ले आइए। फिर एक पैर को उठाकर सीधा फैला दीजिए। प्रारम्भ मे ऐसा करना कठिन होता है, इसलिए दीवार के सहारे खड़े होकर भी यह आसन किया जा सकता है।

समय—प्रारम्भ मे एक या दो मिनट। अभ्यास परिपक्व होने पर सुविधानुसार जितना किया जा सके।

फल—पैर, कमर, जघा, पीठ और गले के स्नायुओ की शुद्धि।

गृध्रोड्डीन

विधि—पैरों को सटाकर सीधे खडे हो जाइए। फिर कन्धो की समरेखा मे दोनों हाथो को फैला दीजिए। बीच-बीच मे गीध के परो की भाति दोनो भुजाओं को हिलाइए।

समय—इसके समय की निश्चित मर्यादा नही है। सुविधानुसार जितना किया जा सके, उतने समय तक यह करणीय है।

फल—१. भुजा के स्नायुओं की शक्ति का विकास।
२. गर्दन के ऊपर के स्नायुओ की पुष्टि।

कायोत्सर्ग

प्रवृत्ति के तीन स्रोत है—काय, वाणी और मन। इसमें मुख्य काय है। वाणी और मन उसके माध्यम से ही प्रवृत्त होते है। काय के स्पन्दनकाल मे वाणी और मन प्रस्फुटित होते है। उसकी अस्पन्द दशा में वे विलीन

हो जाते है। भाषा और मन के परमाणुओ का ग्रहण काय के द्वारा होता है। फिर उनका भाषा और मन के रूप मे परिणमन होता है और विसर्जन-काल मे वे भाषा और मन कहलाते है। भाष्यमाणी भाषा होती है, पहले-पीछे नही होती, इसी प्रकार मन्यमान मन होता है, पहले-पीछे नही होता।

काय वाणी और मन की प्रवृत्ति का स्रोत है, इसीलिए उसकी निवृत्ति या स्थिरता वाणी और मन की स्थिरता का आधार बनती है। काय का त्याग होने पर वाणी और मन स्वय त्यक्त हो जाते है।

शरीरशास्त्र की दृष्टि से शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति के परिणाम इस प्रकार है—

प्रवृत्ति (श्रम) के परिणाम

१ स्नायुओ मे स्नायु शर्करा कम होती है।
२ लेक्टिक एसिड स्नायुओ मे जमा होता है।
३ लेक्टिक एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढती है।
४ स्नायु-तत्र मे थकान आती है।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा कम होती है।

निवृत्ति (आराम) के परिणाम

१ लेक्टिक एसिड का पुन· स्नायु शर्करा मे परिवर्तन होता है।
२ लेक्टिक एसिड का जमाव कम होता है।
३ लेक्टिक एसिड की कमी से उष्णता मे कमी होती है।
४ स्नायुतत्र मे ताजगी आती है।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा वढती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग कम महत्त्वपूर्ण नही है।

स्नायविक तनाव और कायोत्सर्ग

मन, मस्तिष्क और शरीर मे गहरा सम्बन्ध है। उनकी सामजस्य-विहीन गति से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वही स्नायविक तनाव है। शरीर और मन की सक्रियता का सन्तुलन रहना, प्रवृत्ति की बहुलता या संकुलता,

मानसिक आवेग—ये उसके मुख्य कारण है। हम जव-जब द्रव्य-क्रिया करते हैं अर्थात् शरीर को किसी दूसरे काम मे लगाते है और मन कही दूसरी ओर भटकता है, तव स्नायविक तनाव बढ़ता है। हम भावक्रिया करना सीख जाए—शरीर और मन को एक ही काम मे सलग्न करने का अभ्यास कर ले तो स्नायविक तनाव वढ़ने का अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक तनाव के शिकार होते है, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से वंचित रहते है। वे लोग अधिक भाग्यशाली है, जो इस तनाव से मुक्त रहते हैं।

तनाव उत्पन्न करने मे भय का भी बड़ा हाथ है। अध्यात्मवादियो ने उसके सात प्रकार वतलाए है—

१. इहलोक भय—मनुष्य को अपनी ही जाति—मनुष्य से होने वाला भय।
२. परलोक भय—मनुष्य को विजातीय—पशु आदि से होने वाला भय।
३. आदान भय—धन-विनाश का भय।
४. अकस्मात् भय—काल्पनिक भय।
५. आजीविका भय—आजीविका कैसे चलेगी—इस प्रकार का भय।
६ मरण भय—मृत्यु का भय।
७ अश्लाघा भय—अपयश का भय।

ये भय मनुष्य के जीवन मे व्याप्त रहते है। इनके द्वारा वह स्नायविक तनाव से बुरी तरह आक्रान्त होकर अशान्तिमय जीवन जीता है। जिसने अभय की आराधना की है, उसे कोई कष्ट नही होता। भयभीत व्यक्ति पल-पल मे कष्ट पाता है। जिसने अभय की आराधना की है, वह जीवन में एक वार मरता है। भयभीत मनुष्य एक दिन मे कई वार मरता है। भय और हिसा मे गहरा लगाव है। जहां भय है, वहा निश्चित रूप से हिसा है। मन को अभय किए विना अहिसा हो ही नही सकती।

अनियत्रित भय से अनेक रोग उत्पन्न होते है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि वियोग का भय जागृत होने पर मनुष्य स्नायु-विकार से ग्रस्त हो जाता है। वह दूसरो पर अत्याचार करने व उन्हे अपग बनाने मे रस लेता है।

—

येल विश्वविद्यालय ने भय से सम्वन्धित कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। उन्हे पढकर हम समझ सकते है कि भय हमारे शरीर और मन को कितना प्रभावित करता है। भय से ये शारीरिक परिवर्तन देखे जाते है—दिल का धडकना, नाडी का तेज चलना, मुह या गला सूखना, कापना, हथेलियो मे पसीना आना और पेट का अन्दर धंसना। मन पर भी गहरी प्रतिक्रियाए होती है। जैसे—विस्मृति, मूर्च्छा और पीडा की तीव्र अनुभूति होना।

स्थानाग सूत्र मे असामयिक मृत्यु के सात कारण वतलाए गए है। उनमे भयात्मक अध्यवसाय उसका एक कारण है।

रोग के भय से पीडा वढ जाती है। निर्भय रोगी की अपेक्षा भयाक्रान्त रोगी को पीडा की अनुभूति कई गुना अधिक होती है। मानसोपचारको ने रोग-पीडित व्यक्तियो पर शिथिलीकरण के प्रयोग किए। उनसे उनकी पीडा मे बहुत अन्तर आया। भय से स्नायविक तनाव बढता है। उससे पीडा तीव्र हो जाती है और कायोत्सर्ग से वह कम होता है, तब पीडा भी कम हो जाती है।

क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, शोक आदि मानसिक आवेगो से भी स्नायविक तनाव बढता है। कायोत्सर्ग से उन आवेगो का शमन होता है और फलत स्नायविक तनाव अपने आप दूर हो जाता है।

कायोत्सर्ग की विधि

कायोत्सर्ग बैठी, खडी और सोयी—तीनो मुद्राओ मे किया जा सकता है। इसकी पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सुखासन या पद्मासन लगाकर या पालथी बाधकर बैठ जाइए। दोनो हाथो को या तो घुटनो पर टिकाइए या बायी हथेली पर दायी हथेली रखकर उन्हे अक मे रखिए। फिर पृष्ठवश (रीढ की हड्डी) और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमे न झुकाव हो और न तनाव हो। वे शिथिल भी रहे और सीधे-सरल भी। फिर दीर्घश्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्बाइए जितना बिना किसी कष्ट के लम्बा सके। इससे शरीर और मन दोनो के शिथिलीकरण मे बडा सहारा मिलेगा।

आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के बाद वह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण मे मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने आप हो जाता है। फिर विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव में टिकाइए, जिसे आप शिथिल कर रहे है। अवयवो को शिथिल करने का क्रम यह रखिए—गर्दन, कन्धा, छाती, पेट—दायें, बाये, पृष्ठभाग, भुजा, हाथ, हथेली, अगुली, कटि, टाग, पैर-अंगुली। फिर मासपेशियों को शिथिल कीजिए। मन से शरीर के भाग और मासपेशियो का अवलोकन कीजिए। इस प्रकार अवयवो और मासपेशियो के शिथिलन के बाद स्थूल शरीर से सम्वन्ध-विच्छेद और सूक्ष्म शरीर से दृढ सम्वन्ध-स्थापन का ध्यान कीजिए।

सूक्ष्म शरीर दो है—

१. तैजस
२. कार्मण

तैजस शरीर विद्युत् का शरीर है। उसके साथ सम्वन्ध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति की प्राप्ति का यह प्रवल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास कीजिए।

इस भूमिका मे ममत्व-विसर्जन हो जाएगा। शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्रान्ति विसर्जित हो जाएगी।

यदि आप खडी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सीधे खडे हो जाइए। दोनो हाथों को घुटनो की ओर लटकाकर उन्हे ढीला छोड दीजिए। पैरो को समरेखा मे रखिए और दोनो पजो मे चार अगुल का अन्तर रखिए। शेप सारे अंगो को स्थिर रखिए और शिथिल कीजिए। किसी भी अंग मे तनाव मत रखिए।

यदि आप सोयी मुद्रा में कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले तानिए, फिर क्रमश उन्हे शिथिल कीजिए। हाथो और पैरो को परस्पर सटाए हुए मत रखिए। श्वास-उच्छ्वास समभाव से किन्तु लम्बा लीजिए। मन को श्वास-उच्छ्वास मे लगाकर एकाग्र या विचारशून्य हो जाइए।

मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। प्रयत्न से चंचलता बढती है। स्थिरता अप्रयत्न से आती है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए जितना किया जा सके। वह प्रतिदिन आधा घटा शिथिल हो सके तो मन अपने आप शान्त होने लगता है। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो। यह न हो सके तो ॐ, अर्हम् जैसे किसी शब्द का ऐसा प्रवाह हो कि बीच मे कोई दूसरा विकल्प न आए। श्वास की गिनती करने से यह स्थिति सहज ही बन जाती है।

कायोत्सर्ग के प्रारम्भ मे इन संकल्पो को दोहराइए—

१ शरीर शिथिल हो रहा है।
२ श्वास शिथिल हो रहा है।
३ स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है।
४ तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है।
५ कार्मण शरीर (वासना-शरीर) भिन्न हो रहा है।
६ ममत्व-विसर्जन हो रहा है।
७ मै आत्मस्थ हो रहा हू।

कायोत्सर्ग का कालमान

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम से कम पन्द्रह-बीस मिनट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्ग मे मन को श्वास मे लगाया जाता है, इसलिए उसका कालमान श्वास की गिनती से भी किया जा सकता है, जैसे सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, दो सौ, तीन सौ, पाच सौ, हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग आदि-आदि।

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग का मुख्य फल है—आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। उसका गौण फल है—मानसिक सन्तुलन, बौद्धिक विकास और शारीरिक स्वस्थता। मानसिक स्वस्थता, स्नायु-तनाव व कफ से उत्पन्न रोगो के लिए

यह अमूल्य रसायन है।

आचार्य भद्रवाहु ने कायोत्सर्ग के पाच फल बताए है–

१. दैहिक जडता की शुद्धि–श्लेष्म आदि के द्वारा देह मे जडता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष मिट जाते है। अत· उनसे उत्पन्न होने वाली जडता भी नष्ट हो जाती है।
२. बौद्धिक जडता की शुद्धि–कायोत्सर्ग मे चित्त एकाग्र होता है। उससे बौद्धिक जडता नष्ट हो जाती है।
३. सुख-दु·ख तितिक्षा–सुख-दुख सहने की शक्ति प्राप्त होती है।
४. शुद्ध भावना का अभ्यास होता है।
५ ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

बैठकर किए जाने वाले आसन

गोदोहिका

विधि–घुटनो को ऊचा रखकर पजो के वल पर वैठ जाइए। दोनो हाथो को दोनो ऊरुओ (साथलों) पर टिका दीजिए। यह गाय को दोहने की मुद्रा है, इसलिए इसका नाम गोदोहिका है।

समय–दीर्घकाल।

फल–कामवाहिनी नाडियो पर दवाव पडने के कारण यह ब्रह्मचर्य मे सहायक होता है।

भगवान् महावीर इस आसन मे ध्यान किया करते थे।

उत्कटुकासन

विधि–दोनो पैरो को भूमि पर टिका दीजिए और दोनो पुतो को भूमि से न छुआते हुए जमीन पर बैठ जाइए।

समय–दीर्घकाल।

फल–१. ब्रह्मचर्य मे सहायक।

२. इसमे बैठे-बैठे पवनमुक्तासन की क्रिया हो जाती है, इसलिए यह वातरोग मे भी लाभ पहुचाता है।

समपादपुता

विधि—दोनो पैरो और पुतो को समरेखा मे भूमि से सटाकर वैठ जाइए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ व्रह्मचर्य मे सहायक।

२ वातरोग मे लाभकारी।

गोनिषद्यिका

विधि—बाए पैर की एडी को ऊरु से सटाकर वैठ जाइए और दाये पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोडते हुए पीछे की ओर ले जाइए। दूसरी आवृत्ति मे दाये पैर की एडी को ऊरु से सटाकर वैठ जाइए और बाये पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोडते हुए पीछे की ओर ले जाइए। यह गाय के वैठने का आसन है, डसलिए इसे गोनिपद्यिका कहा जाता है।

समय—दीर्घकाल।

फल—व्रह्मचर्य मे सहायक।

हस्तिशुण्डिका

विधि—पुतो के सहारे वैठकर क्रमश· एक-एक पैर को ऊपर उठाकर अधर मे रखिए।

समय—एक मिनट से पाच मिनट तक।

फल—१ कटिभाग से नीचे के अवयवो मे शक्ति का संचार होता है।

२ वीर्य-दोष नष्ट होते है।

कुछ योगाचार्य इसे खडा होकर किया जाने वाला आसन मानते है। उसकी प्रक्रिया यह है।

विधि—सीधे खडे रहिए। सिर को घुटनो की ओर नीचे ले जाइए। दोनो हाथ जोडकर हाथी की सूड की भाति दोनो पैरो के बीच में जितना ले जा सके, ले जाए।

समय—एक से पाच मिनट तक।

फल—पेट, पीठ, छाती, ग्रीवा और पैरो के विकार दूर होते है।

पद्मासन

विधि—पहले बाये पैर को दाये ऊरु और जंघा की सन्धि पर और दाये पैर को बाये ऊरु और जघा की सन्धि पर रखिए। फिर दूसरी विधि के अनुसार पहले दाया पैर और फिर बायां पैर उसी पद्धति से रखिए। बायी हथेली पर दायी हथेली रखकर उन्हें नाभि के नीचे रखिए। इस स्थिति में बैठने पर पृष्ठ-रज्जु और गर्दन अपने आप सीधे हो जाते हैं। आंखो को मुंदी हुई या अधमुदी हुई रखिए।

समय—अभ्यास करते-करते इसे तीन घंटे तक ले जाइए। यह उससे भी अधिक समय तक किया जा सकता है किन्तु तीन घंटे का अभ्यास कर लेने पर यह सध जाता है।

फल—१. यह मुख्यत. ध्यानासन है। इससे शारीरिक धातुए सम होती है, इसलिए यह मन की एकाग्रता में सहायक बनता है।

२. जंघा, ऊरु आदि के स्नायु सशक्त होते है।

३. इन्द्रिय-विजय मे सहायता मिलती है।

पद्मासन के विविध रूप

१. बद्धपद्मासन

विधि—दाये पैर का बाये ऊरु और बायें पैर को दाये ऊरु पर रखिए। एड़ियो को नाभि के नीचे के भाग से सटा दीजिए। दोनों हाथो को पीछे ले जाकर दाये हाथ की मध्यवर्ती तीन अंगुलियो से दाये पैर का और बाएं हाथ की मध्यवर्ती तीन अगुलियो से बाये पैर का अंगूठा पकड़िए। पेट को थोड़ा-सा अन्दर ले जाइए और सीने को कुछ आगे की ओर उभारिए। फिर दीर्घ श्वास लीजिए।

समय—शारीरिक शक्ति के अनुसार आधा घंटा तक इसका अभ्यास किया जा सकता है।

फल—१. फेफडो की शुद्धि।

२. कटि के स्नायुओं की सशक्तता।

३. इसके साथ मूलबन्ध करने से वीर्य-दोपो की शुद्धि।

४. उदर रोगो का शमन।

२. योगमुद्रा

विधि—दाये पैर को वाये ऊरु पर रखिए ओर एडी को नाभि से सटा दीजिए। वाये पैर को दाये ऊरु पर रखिए और एडी को नाभि से सटा दीजिए। फिर दाये हाथ को पीछे ले जाकर फैला दीजिए ओर वाये हाथ को पीछे ले जाकर उससे दाये हाथ की कलाई को पकडिए। आगे झुककर ललाट से भूमि का स्पर्श कीजिए।

समय—एक मिनट से आधा घटा तक।

फल—१. कोष्ठबद्धता दूर होती है।

२. ब्रह्मचर्य मे सहायक।

३. सोड्डीयान पद्मासन

विधि—पद्मासन मे वैठकर, श्वास का रेचन कर, वहि कुभक की स्थिति मे उड्डीयान बन्ध कीजिए—पेट को भीतर ले जाइए और फिर फुलाइए। एक कुम्भक मे दस आवृत्तिया की जाए तो दस वार मे उसकी सौ आवृत्तिया हो जाती है। इस क्रिया मे नाभि जितनी पृष्ठ-रज्जु की ओर जा सके, उतनी ले जानी चाहिए।

फल—उदर रोगो पर आश्चर्यकारी प्रभाव।

४. अर्धपद्मासन

विधि—वाये या दाये किसी एक पैर को पद्मासन की मुद्रा मे रखने से अर्धपद्मासन हो जाता है।

समय—पद्मासन की तरह।

फल—पद्मासन की तरह।

५. ऊर्ध्वपद्मासन

विधि—सर्वागासन या शीर्षासन के साथ पद्मासन करने से ऊर्ध्व पद्मासन हो जाता है।

समय—अभ्यास करते हुए आधा घटा तक।

फल—१. वीर्य का ऊर्ध्वाकर्षण।

२ मन की एकाग्रता।

६. उत्थित पद्मासन

विधि—पद्मासन में बैठकर दोनो हथेलियो को भूमि पर टिकाइए और शरीर को भूमि से ऊपर उठाइए।

समय—दो-तीन मिनट।

फल—१. पद्मासन के लाभ।

२. हथेली के स्नायुओ की सशक्तता।

इसे दोलासन या लोलासन भी कहा जाता है। कुछ आचार्यो ने पद्मासन को पर्यकासन और अर्धपद्मासन को अर्धपर्यकासन माना है।

वीरासन

विधि—बद्ध पद्मासन की तरह दोनो पैरो को रखिए और हाथो को पद्मासन की तरह रखिए।

समय—क्रमश· तीन घटे तक बढाए।

फल—धैर्य, सतुलन और कष्ट सहने की क्षमता का विकास।

कुछ आचार्यो ने कुर्सी पर बैठकर उसे निकाल देने पर जो मुद्रा बनती है, उसे वीरासन माना है।

सुखासन

विधि—किसी एक पैर को वृपण के पास ऊरु के निम्नवर्ती भाग से सटाकर बैठिए और दूसरे पैर को जघा और ऊरु के बीच मे रखिए। दूसरी वार मे पैरो का क्रम बदल दीजिए।

समय—यह ध्यानासन है, इसलिए चाहे जितने समय तक किया जा सकता है।

फल—कामवाहिनी नाडी पर नियंत्रण।

कुक्कुटासन

विधि—पद्मासन मे बैठकर ऊरु और जघा के बीच मे दोनो हाथो को कोहनी तक नीचे ले जाइए और हथेलियो को भूमि पर टिका दीजिए तथा उनके वल पर सारे शरीर को ऊपर उठाइए।

समय—एक मिनट से पाच मिनट तक।

फल—१ स्नायविक दुर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाला क्रोध और मोह का विकार नष्ट हो जाता है।

२. स्नायु पुष्ट होते है।

३. मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है।

४. कामवासना पर विजय प्राप्त होती है।

सिद्धासन

विधि—बाये पैर की एड़ी को गुदा और सीवन के बीच मे रखिए और दाये पैर की एडी को इन्द्रिय के ऊपर स्थापित कीजिए। हाथो की मुद्रा पद्मासन की भांति कीजिए।

समय—एक मिनट से तीन घटा।

फल—वीर्य-शुद्धि।

भद्रासन

विधि—दोनो पैरो को सामने फैलाकर बैठिए। बाद मे पैरो के तलो को सपुटित कीजिए—परस्पर मिलाइए। फिर उन्हे उपस्थ के समीप रखिए जिससे पैरो के अंगूठे भूमि पर और एडियां नाभि के समीप आ जाए। फिर पैरो को धीमे-धीमे घुमाइए जिससे पैरो की अंगुलियां नितम्बो के नीचे चली जाये और एडियां वृषण-ग्रन्थियो के नीचे सामने की ओर दीखे। दोनों हथेलियों को घुटनो पर टिकाइए।

समय—पाच मिनट से आधा घंटा।

फल—कार्य करने की रुचि उत्पन्न होती है।

वज्रासन

विधि—घुटनो को मोडकर पीछे की ओर ले जाइए जिससे दोनो ऊरु और जघाए ऊपर-नीचे हो जाए। घुटने से अगुलियो तक का भाग जमीन को छूते हुए रहना चाहिए।

समय—दस-पन्द्रह मिनट किए बिना इसका परिणाम प्राप्त नहीं होता। विशेष लाभ के लिए इसे लम्बे समय तक करना चाहिए।

फल—१. भोजन के पश्चात् पन्द्रह मिनट तक वज्रासन करने से पाचन शक्ति वढती है।

२. अपानवायु की शुद्धि।
३. वीर्य-दोष की शुद्धि।
४. घुटनो और पैरो के स्नायुओ की सशक्तता।

मत्स्येन्द्रासन

विधि—बाये पैर का पजा दाये ऊरु के मूल मे रखिए और एड़ी को पेडू से सटाइए। फिर दाये पैर को बाये घुटने से आगे ले जाइए। बाये हाथ को दाये घुटने के ऊपर से ले जाकर अगुलियो से उसका अगूठा पकड़िए। दाये हाथ को पीठ की ओर ले जाकर उससे बायें पैर की एड़ी पकड़िए। मुंह और पीठ के भाग को जितना मोड़ सकें, उतना पीछे की ओर ले जाइए। धीमे-धीमे श्वास लीजिए। दूसरी आवृत्ति मे पैरो और हाथो का क्रम बदल दीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—पृष्ठ-रज्जु के स्नायुओ की शुद्धि।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

जब बाये पैर की एड़ी को गुदा और सीवन के बीच रख कर दाये पैर को पूर्ववत् बाये घुटने से आगे ले जाकर रखा जाता है, दाये हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर बाये ऊरु के मूल में स्थापित किया जाता है और शेष क्रिया पूर्ववत् की जाती है तब अर्धमत्स्येन्द्रासन हो जाता है। दूसरी आवृत्ति मे पैरो और हाथों का क्रम बदल देना चाहिए। अर्धमत्स्येन्द्रासन का समय और फल पूर्ववत् है। मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा फल की मात्रा इसमें कम होती है।

पश्चिमोत्तानासन

विधि—सीधे बैठकर दोनो पैरो को आगे की ओर समरेखा में फैलाइए। फिर श्वास का रेचन कर शरीर को आगे की ओर झुकाते हुए दोनो हाथो की अगुलियो से पैरो के अंगूठो को पकड़िए और सिर को दोनो घुटनो के बीच मे टिका दीजिए।

समय—इस आसन की सिद्धि आधा घंटा तक करने से होती है।

फल—१. मन्दाग्नि आदि उदर रोगो का शमन।
२ हर्निया की वीमारी मे लाभकारी।

महामुद्रा

विधि—किसी एक पैर की एडी सीवन और गुदा के मध्य भाग मे लगाइए तथा दूसरे पैर को सीधा फैला दीजिए। श्वास बाहर निकालिए। उड्डीयान बन्ध कीजिए। सिर घुटने पर टिकाइए। दूसरे पैर से भी वैसी ही पुनरावृत्ति कीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्याशय तथा पाचनयत्र की दृढता।

संप्रसारण भूनमनासन

विधि—सीधे वैठकर पैरो को यथाशक्ति फैलाइए। हाथों से पैरो के अगूठे पकडकर सिर को भूमि पर रखिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्याशय की दृढता।

कन्दपीड़नासन

विधि—सीधे पैर के पजे को जमीन पर टेक एडी को सीवन तथा गुदा से सटाइए। बाए पैर को दाए घुटनो पर रखिए। दोनो हाथों से दोनो कमर के पार्श्वो को पकडिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्य-वाहिनी नाडियो की शुद्धि।

लेटकर किए जाने वाले आसन

दण्डायतशयन

विधि—दण्ड की तरह सीधे लेट जाइए। दोनो पैरो को परस्पर सटा दीजिए तथा दोनो हाथो को पैरो से सटा दीजिए।

समय—कम से कम पाच मिनट और सुविधानुसार घटो तक किया जा सकता है।

फल—दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

आम्रकुब्जिकाशयन

विधि—भूमि पर किसी भी पार्श्व से लेट जाइए। सिर और पैरो को कुछ आगे की ओर निकालिए। इसमे दोनो ओर से नीचे की ओर झुके हुए आम की भाति कुछ कुब्ज-आकार हो जाता है।

समय—दीर्घकाल

फल—पार्श्व के स्नायुओ की शुद्धि।

उत्तानशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले ताने और फिर क्रमश· उन्हे शिथिल कीजिए। सममात्रा मे तथा दीर्घ श्वास-उच्छ्वास लीजिए। मन को श्वास और उच्छ्वास मे लगाकर एकाग्र, स्थिर और विचारशून्य हो जाइए। हाथो और पैरो को अलग-अलग रखिए।

समय—दीर्घकाल।

फल—दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

इसे सुप्त कायोत्सर्ग या शवासन भी कहते है।

अवमस्तकशयन

विधि—औधे मुख लेट जाइए। हाथो और पैरो को उत्तानशयन की भांति रखिए।

समय—पांच मिनट।

फल—वायु व उदर दोषो की शुद्धि।

एकपार्श्वशयन

विधि—बाये या दाये किसी एक पार्श्व से लेट जाइए और उस पार्श्व के हाथ को सिर के नीचे रखिए।

समय—दीर्घ काल।

फल—१. वीर्य की सुरक्षा।

२. स्वप्नदोष से बचने का सुन्दर उपाय।

३ बाये पार्श्व सोने से पाचनक्रिया ठीक होती है और सहज ही रात्रिकाल में सूर्यस्वर चालू रहता है।

४ दाये पार्श्व सोने से वायु-शुद्धि होती है।

ऊर्ध्वशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। नाभि से ऊपर के अथवा नीचे के भाग को ऊचा उठाइए।

समय—तीन से पांच मिनट।

फल—१. कटि भाग तथा उसके नीचे और ऊपर के भागों की पेशियो पर प्रभाव होता है।

२. शुक्र-ग्रन्थियां प्रभावित होती है।

लकुटासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। लकुट (वक्र काष्ठ) की भांति एडियो और सिर को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाइए।

पीठ को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोने को भी लकुटासन कहा जाता है।

समय—तीन से पाच मिनट।

फल—१. कटि के स्नायुओ की शुद्धि।

२. उदर-दोषो की शुद्धि।

मत्स्यासन

विधि—पद्मासन लगाकर लेट जाइए। दोनो हाथो से दोनो पैरो के अगूठे पकड़िए। सीने को ऊपर की ओर उठाकर सिर को जितना पीछे की ओर ले जा सके, ले जाकर भूमि पर टिकाइए।

दूसरे प्रकार मे जालन्धर बन्ध भी किया जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट तक।

फल—पहली विधि .

१. उदर के स्नायुओ पर प्रभाव होता है।

२. कोष्ठबद्धता मिटती है।
३. गर्दन के स्नायु पुष्ट होते है।
४. फेफड़ो का व्यायाम होता है।

दूसरी विधि

गले और मस्तिष्क पर प्रभाव होता है।

पवनमुक्तासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। बाये पैर को उठाकर उसे मोड़ते हुए उससे बाये वक्ष को दबाइए। फिर उसे सीधा कर दीजिए। दाये पैर से भी उसी क्रिया को दोहराइए। फिर दोनो पैरो से एक साथ वक्ष के दोनो पार्श्वो को दबाइए। फिर दोनो पैरों को फैला दीजिए। यह बैठकर भी किया जा सकता है।

समय—पांच से पन्द्रह मिनट तक।

फल—१. अपान वायु की शुद्धि।
२. वायु (गैस) का ऊर्ध्वगामी होना बद हो जाता है।

भुजंगासन

विधि—भूमि पर पेट के बल लेट जाइए। दोनो हाथो के पंजो को पेट के दोनो पार्श्वो से सटाते हुए भूमि पर टिकाइए। फिर हाथो को वक्ष के पास लाकर पूरक करते हुए नाभि के ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाते हुए सर्प के फण की मुद्रा में हो जाइए।

समय—उक्त मुद्रा मे एक-दो मिनट कुम्भक के साथ रहिए। फिर श्वास का रेचन करते हुए धीमे-धीमे औंधा लेटने की मुद्रा में आ जाइए।

फल—१. स्वप्न-दोष मिटता है।
२. वीर्य शुद्ध होता है।
३. प्राणायाम से होने वाले लाभ भी सहज प्राप्त हो जाते है।

धनुरासन

विधि—भूमि पर पेट के बल लेट जाइए। पैरो को घुटनो के पास

मोडते हुए पीछे ऊपर की ओर ले जाइए। दोनो हाथो को पीछे की ओर फैलाते हुए उनसे दोनो पैरो के टखनो के पास का भाग पकडिए। भुजगासन की भाति नाभि से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाइए।

समय—एक से पाच मिनट।

फल—यकृत, प्लीहा और उदर के रोग शान्त होते है।

विपरीत क्रिया

सर्वागासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। फिर धीमे-धीमे दोनो पैरो, सक्थियो (ऊरुओं) तथा गर्दन तक के शरीर को ऊपर की ओर ले जाइए। दोनो हथेलियो से कमर को हल्का-सा सहारा दीजिए।

समय—दो मिनट से आधा घटा।

फल—१. मस्तिष्क और हृदय के स्नायुओ की शुद्धि।

२. उदर रोगो का शमन।

३. वीर्य-दोषो की शुद्धि।

४. कण्ठमणि पर दवाव पडने के कारण उसका समुचित स्राव होता है।

सर्वागासन मे पैरो को पीछे की ओर मोडकर भूमि से सटा देने पर हलासन हो जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट।

फल—१. पृष्ठरज्जु लचीला होता है।

२. अग्नि प्रदीप्त होती है।

सर्वागासन मे पैरो को मोडकर दोनो कानो के पास सटा देने पर कर्णपीड़नासन हो जाता है।

समय—सुविधानुसार।

कर्णपीडनासन का उपयोग ध्यान के लिए भी किया जा सकता है।

शीर्षासन

विधि—दोनो घुटनो के वल बैठकर दोनो हथेलियो को एक दूसरे से वाधकर उन्हे भूमि पर टिकाइए। अथवा किसी मोटे कपडे को नीचे रखिए।

उन पर सिर को रखकर समूचे शरीर को ऊपर की ओर ले जाकर टिका दीजिए। प्रारम्भ मे यह भीत आदि के सहारे किया जा सकता है। अभ्यास होने पर सहारे की अपेक्षा नही होती।

समय—एक-दो मिनट से आधा घटा।

फल—समूचे शरीर पर प्रभाव होता है। मस्तिष्क, वीर्य और पाचन सस्थान पर विशेप प्रभाव होता है।

पित्त-प्रधान प्रकृति वालो के लिए यह आसन हितकर नही होता। उससे नेत्र-विकार होने की सभावना रहती है।

ध्यानासन

ध्यानासन मुख्य पाच है।

१. गोदोहिका
२ सिद्धासन
३. पद्मासन
४. सुखासन
५ कायोत्सर्ग :

इनके अतिरिक्त शेप सव मुख्य रूप से शरीरासन है।

शरीरासन

शरीरासन शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि की शक्ति को विकसित करने के लिए किए जाते है।

आसनों का वर्गीकरण

स्वास्थ्य के मूल तत्त्व है ·

१ वीर्याशय की शुद्धि।
२. नाडी-सस्थान की शुद्धि।
३ पाचन-सस्थान की शुद्धि।
४. वायु-शुद्धि।
५. उत्सर्ग-शुद्धि।

वीर्याशय की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन

१. भुजगासन
२. संप्रसारण-भूनमनासन
३. कन्दपीड़नासन
४. कुक्कुटासन
५. योगमुद्रा
६. मत्स्येन्द्रासन
७. महामुद्रा।

नाड़ी-सस्थान की शुद्धि के लिए आसन

१. कुक्कुटासन
२. वीरासन।

पाचन-सस्थान की शुद्धि के लिए आसन

१ सुप्त पद्मासन (पद्मासन मे लेटना)
२. अर्धलकुटासन (पैरो को ऊपर उठाए रखना)
३. महामुद्रा
४. योगमुद्रा
५. मत्स्येन्द्रासन
६ सोड्डीयान पद्मासन
७ पश्चिमोत्तानासन
८. धनुरासन
९. सर्वांगासन।

वायु-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. पवनमुक्तासन
२. उत्थितपद्मासन।

ये श्वास-शुद्धि के लिए भी उपयोगी है।

उत्सर्ग-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. सोड्डीयान पद्मासन
२. बद्धपद्मासन
३ मुष्टियुक्तयोगमुद्रा (योगमुद्रा मे दोनो मुट्टियो को एड़ियो के पास सटाकर बैठना)
४. अर्धलकुटासन (उचित पादासन)।

शरीर के विभिन्न अवयवो की उपयोगिता की दृष्टि से भी आसनों के कुछ वर्गीकरण किए जा सकते है।

सिर, नाक, कान और आंख के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वागासन

२. ऊर्ध्वपद्मासन

गर्दन और कन्धो के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वागासन

२. हलासन

३. मत्स्यासन

४. जालधरवन्ध।

छाती, फेफड़े और हृदय के लिए उपयोगी आसन :

१ भुजंगासन

२. धनुरासन

३. पवनमुक्तासन

४. प्राणायाम।

हाथ और पैर के लिए उपयोगी आसन :

१. उत्थित पद्मासन

वृपण-वृद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वागासन

२. शीर्षासन

आसन सम्वन्धी सामान्य निर्देश

१. आसनकाल मे मन तनाव से मुक्त रहना चाहिए। शारीरिक तनाव मानसिक तनाव से पैदा होता है। मन जितना खाली होगा, उतना ही शरीर तनावमुक्त होगा अर्थात् आसन के प्रायोग्य होगा।

२. जिस अवयव-सम्बन्धी आसन करे, उसी अवयव मे मन को टिकाए रखे।

३. श्वास दीर्घ और मंद ले। मन की गति आसन से सम्बन्धित अवयव पर होती है तो श्वास का अन्तःप्रवाह मुख्य रूप से उस अवयव की ओर सहज ही हो जाता है।

४. आसन का प्रयोग शुद्ध हवा मे करना चाहिए।

५ पद्मासन-सुखासन जैसे मृदु आसनो को छोडकर शेष अधिकांश आसन भोजन के पश्चात् तीन घटे से पहले नही करने चाहिए। कठोर आसन करने के पश्चात् आधे घटे से पहले भोजन नही करना चाहिए।

साधारणतया शौच से निवृत्त होने के पश्चात् प्रात काल मे आसन करना अति उपयुक्त है अथवा रात्रिकाल मे।

६. आसन करने वाले को डटकर भोजन नही करना चाहिए। उसका भोजन सात्त्विक होना चाहिए।

७ आसन के पश्चात् उसका प्रतिलोम आसन अवश्य करना चाहिए। जैसे—

अनुलोम	**प्रतिलोम**
सर्वांगासन	मत्स्यासन
भुजगासन	पश्चिमोत्तानासन

प्रतिलोम आसन की काल-मर्यादा अनुलोम आसन से आधी होनी चाहिए। यदि दस मिनट सर्वांगासन हो तो मत्स्यासन पाच मिनट करना चाहिए।

८ प्रत्येक आसन के पश्चात् एक मिनट का उत्तानशयन (शवासन) करना चाहिए और आसन के पूरे क्रम की समाप्ति पर उक्त आसन पाच मिनट से पन्द्रह मिनट तक करना चाहिए।

९ आसन-काल मे कसा हुआ वस्त्र, जो रक्त सचार मे बाधा डाले, नही पहनना चाहिए किन्तु कोपीन आवश्यक है।

१० हर आसन के साथ मूल-बन्ध अवश्य करना चाहिए।

आसन का सामान्य प्रयोजन

भगवान् महावीर ने आसन को तप का एक प्रकार बतलाया है। उनकी भाषा मे आसन का नाम कायक्लेश है। आसन के द्वारा शरीर को कुछ कष्ट होता है। उस कष्ट से मानसिक धैर्य और सहिष्णुता का विकास होता है। यह आसन का आध्यात्मिक लाभ है।

आसन के द्वारा धमनियो मे रक्त का सचार उचित प्रकार से होता है। अवस्था के साथ हृदय की धमनिया कठोर और सकरी होती जाती

है। उन्हे रोकने का उपाय आसन के द्वारा समुचित मात्रा मे रक्त पहुचाते रहना है। इस प्रकार आध्यात्मिक और शारीरिक दोनो दृष्टियो से आसन मूल्यवान है।

जैन साधना पद्धति मे आहारविजय, आसनविजय और निद्राविजय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आहार और निद्रा—ये दोनो शरीर की अनिवार्य आवश्यकताए है। आहार के विना जैसे शरीर शक्तिशाली और स्वस्थ नही रहता वैसे ही निद्रा के विना वह स्वस्थ और कार्यक्षम नही रहता। आहार के लिए जैसे मात्रा का प्रश्न है, वैसे ही निद्रा के लिए भी मात्रा का प्रश्न है। आहार के लिए जैसे सामान्य नियम है—जितनी भूख उतना भोजन, वैसे ही निद्रा के लिए भी सामान्य नियम यह है—जितनी जरूरत उतनी नीद। निद्राविजय का अर्थ निद्रा को कम करना नही है किन्तु निद्रा की जरूरत को कम करना है। शरीर मे जितना विप जमा होता है उसे शरीर निकालता है। उसे निकालने की एक प्रक्रिया निद्रा है। प्रवृत्ति जितनी अधिक और उत्तेजित होती है। उतनी ही निद्रा की जरूरत अधिक होती है। वह जितनी कम और शान्त होती है उतनी ही निद्रा की जरूरत कम हो जाती है। निद्रा के लिए ऐसा कोई स्थूल नियम नही वनाया जा सकता कि छह घटा ही सोना है अथवा उससे कम या अधिक सोना है। मानसिक विश्राम, मन की स्थिरता और निर्विकल्पता से नीद की जरूरत अपने-आप कम हो जाती है। हठपूर्वक निद्रा को कम करने का प्रयत्न शरीर और मन—दोनो के लिए हितकर नही होता। नीद लेने के बाद शरीर हल्का, मन प्रसन्न और इन्द्रिया कार्यक्षम हो तो समझना चाहिए कि नीद पर्याप्त ली गई है। कायोत्सर्ग या शिथिलीकरण के समय जो विश्रान्ति होती है, वह कई घटो की नीद का काम कर देती है। वह सूत्र स्मृति मे रखना होगा कि निद्राविजय का अर्थ है निद्रा की आवश्यकता का अल्पीकरण।

१२. वाचां संवरणं मौनम् ॥

१२ वाणी के सवरण को मौन कहा जाता है। यह वचन-गुप्ति है। पहले काय की गुप्ति होती है, फिर वचन की गुप्ति होती है, तत्पश्चात् मन की गुप्ति होती है।

चंचलता का बहुत बडा हेतु वाणी है। यदि वाणी नही होती तो हमारा दूसरो के साथ सम्पर्क नही होता। हम एक-दूसरे से कटे हुए होते। उस कटाव की स्थिति में या पारस्परिक सम्बन्धो के अभाव की स्थिति मे हमारी प्रवृत्तियां सीमित हो जाती है। फलत. हमारी चंचलता मिट जाती है। पूज्यपाद ने लिखा है कि जन-सम्पर्क मे वाणी का प्रयोग होता है। उससे चचलता बढती है। मानसिक स्थिरता चाहने वाला व्यक्ति वचन की स्थिरता नही करता तो इसका अर्थ होगा कि उसकी मानसिक स्थिरता की चाह वास्तविक नहीं है।

जव भापा गौण होती है और मन प्रधान होता है तव हम चिंतन की स्थिति मे होते है और जव मन गौण होता है और भाषा प्रधान होती है तब हम वोलने की स्थिति मे होते है। जव भापा और मन अलग-अलग हो जाते है तव हम ध्यान की स्थिति मे होते है।

प्रयोजन के विना न बोलना वाणी की प्रवृत्ति नही है, फिर भी प्रस्तुत प्रकरण मे उसे मौन कहना इष्ट नही है। मौन के पीछे न वोलने का दृढ़ मानसिक संकल्प होना चाहिए। यह सकल्प ही उसकी विशेषता है। मौनकाल मे दोनो होठ मिले हुए रहने चाहिए। उदान वायु पर विजय पाने का यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपाय है। बोलने से शक्ति क्षीण होती है। मौन के द्वारा सहज ही उससे बचाव हो जाता है। इस प्रकार मौन अनेक मार्गो से मन की एकाग्रता मे सहायक होता है।

१३. इन्द्रिय-कषायनिग्रहो विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता ॥

१४. इन्द्रियाणां विषय-प्रचारनिरोधो विषय-प्राप्तेषु अर्थेषु राग-द्वेष- निग्रहश्च इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता ॥

१५. क्रोधादीनां उदय-निरोधस्तेषामुदय प्राप्तानां च विफलीकरणं कषाय-प्रतिसंलीनता ॥

१६. ऐकाग्र्योपघातक-तत्त्व-रहितेषु स्थानेषु निवसनं विविक्तवासः ॥

१३ पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के निग्रह तथा विविक्तवास (एकान्तवास) को प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) कहा जाता है।

इस परिभाषा से प्रतिसलीनता के तीन प्रकार फलित होते है ·

१. इन्द्रियप्रतिसंलीनता
२. कपायप्रतिसंलीनता
३ विविक्तवास।

१४ इन्द्रियों के विषय-प्रचार को रोकने (विषयो का ग्रहण न करने) तथा जो विपय प्राप्त हो उन पर राग-द्वेष न करने को इन्द्रियप्रतिसंलीनता कहा जाता है।

१५. क्रोध, मान, माया और लोभ को उदय मे न लाने तथा वे उदय में आ जाएं तो उन्हे विफल करने को कपाय-प्रतिसलीनता कहा जाता है।

१६ एकाग्रता मे वाधा डालने वाले तत्त्वो से रहित स्थान को विविक्तवास कहा जाता है।

प्रतिसंलीनता

मानसिक चचलता कुछ निमित्तो से होती है। उनमे पहला निमित्त इन्द्रिया है। वे जब वाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते है, तब मन को चचल वनाते है, इसीलिए साधना की भूमिका मे उनको अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न किया जाता है। उनके अन्तर्मुख होने का अर्थ है—विपयो के साथ सम्पर्क स्थापित न करना। किन्तु इस जगत् मे यह कव सभव है कि हमारे इन्द्रिय विपयो से सर्वथा असम्पृक्त रह सके ? इस कोलाहलमय जगत् मे क्या यह संभव है कि कान हो और शब्द सुनाई न दे ? इस रूपमय जगत् मे क्या यह सभव है कि आख हो और रूप को न देखे ? वायु के साथ प्रवाहित होकर आने वाली गध को कैसे रोका जा सकता है ? रस और स्पर्श के सम्पर्क को भी सर्वथा नही रोका जा सकता। इस स्थिति मे हम विपयो से असम्पृक्त एक सीमा मे ही रह सकते है।

क्या इस स्थिति मे हम मानसिक चंचलता को रोकने मे सफल हो सकते है ? नहीं हो सकते। किन्तु मनुष्य का शक्तिशाली मस्तिष्क नही को हा में बदल देता है। उसने एक विकल्प खोज निकाला कि मन की स्थिरता का अभ्यास करने वाला व्यक्ति विषयो के सम्पर्क से जितना वच सके, उतना वचे और न वच सकने की स्थिति मे वह उनके प्रति अनासक्त रहे। विपयो के असम्पर्क और अनिवार्यरूपेण प्राप्त विषयो के प्रति

अनासक्ति—ये दोनो मिलकर इन्द्रिय प्रतिसलीनता की प्रक्रिया को पूरा करते है।

अभ्यास की अपरिपक्व दशा मे विषयो से वचाव करना बहुत उपयोगी है और जैसे-जैसे एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होता जाए, वैसे-वैसे विषयो से बचने की अपेक्षा उनके प्रति होने वाली आसक्ति से बचना बहुत आवश्यक है। विषयो से बचने की प्रवृत्ति हो और अनासक्ति का भाव न हो, उस स्थिति मे आन्तरिक पवित्रता पर बाह्याचार की विजय होती है। विषयो से बचने का प्रयत्न अनासक्ति की साधना का पहला चरण है। इसलिए उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। सिद्धि का द्वार इन दोनो के सामजस्य होने पर ही खुलता है।

आसक्ति के कारण व्यक्ति के मन मे क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के भाव उत्पन्न होते है और वे मन को व्यग्र वनाते है। उन पर विजय पाये बिना कोई भी व्यक्ति एकाग्रता को परिपुष्ट नही बना सकता और इन्द्रियो को भी अन्तर्मुखी नही बना सकता। कषाय प्रतिसलीनता के चार साधन है ·

१. क्रोध-निवृत्ति के लिए उपशम भावना का अभ्यास।

२ मान-निवृत्ति के लिए मृदुता का अभ्यास।

३ माया-निवृत्ति के लिए ऋजुता का अभ्यास।

४ लोभ-निवृत्ति के लिए संतोष—अपनी आन्तरिक समृद्धि के निरीक्षण का अभ्यास।

इन प्रतिपक्ष भावनाओ का पुन·पुन अभ्यास करने से कषाय अपने हेतुओ मे विलीन हो जाता है।

आन्तरिक अनुभूति और शून्यता की गहराई मे जाने के लिए एकातवास बहुत मूल्यवान है। कोलाहलमय वातावरण मे हम दूसरो को सुनते है किन्तु अपने अन्तर की आवाज नही सुन पाते। रगीन वातावरण मे हम दूसरो को देखते है किन्तु इस शरीर मे विराजमान चिन्मय प्रभु को नही देख पाते। एकान्तवास में अपने अन्त करण की आवाज सुनने और अपने प्रभु से साक्षात्कार करने का सुन्दर अवसर मिलता है। उससे हमारा मन बाह्य सम्पर्को से मुक्त होकर अपने शक्ति-स्रोत मे विलीन हो जाता है।

१७. आत्मानं प्रत्यनुप्रेक्षा स्वाध्यायः ॥

१७ आत्मा के विपय में अनुप्रेक्षा (चिन्तन, मनन) करने को स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय

योग के आचार्यो ने परमात्म-प्राप्ति के दो साधन माने है—ध्यान और स्वाध्याय। उन्होने लिखा है—स्वाध्याय करो और फिर ध्यान। ध्यान करो और फिर स्वाध्याय। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान का अभ्यास करने से परमात्मा प्रकट हो जाता है—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ॥
स्वाध्याय-ध्यान-सम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय का शाव्दिक अर्थ है—पढ़ना। साधना के सदर्भ मे केवल पढ़ना स्वाध्याय नहीं है किन्तु आत्मा के विपय मे जानना, विचार करना, मनन करना स्वाध्याय है। यह ध्यान का मूल बीज है। जिसका आत्मविचार स्पष्ट नही है, जिसे 'मै कौन हू' इस विषय की स्पष्ट धारणा नही है और जिसे आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का बोध नही है, वह ध्यान की उत्कृष्ट भूमिकाओ मे कैसे प्रवेश पा सकता है ? इसलिए ध्यान के मूल वीज के रूप मे स्वाध्याय का वहुत वड़ा महत्त्व है।

१८ चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसंस्काराधानं भावना ॥
१६. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आस्रव-संवर-निर्जरा-धर्म-लोक-संस्थान-वोधिदुर्लभता ॥
२०. मैत्री प्रमोद-कारुण्य मध्यस्थताश्च ॥
२१. उपशमादिदृढ़भावनया क्रोधादीनां जयः ॥

१८ चित्त की शुद्धि, मोहक्षय तथा अहिसा, सत्य अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृत्ति को स्थिर करने के लिए जो विशिष्ट सस्कार आहित (स्थापित) किए जाते हैं, उनका नाम भावना है।

१६. भावनाएं बारह है :

१. अनित्य	७. आस्रव
२ अशरण	८. सवर
३ भव	९ निर्जरा
४ एकत्व	१०. धर्म
५ अन्यत्व	११ लोक-सस्थान
६ अशौच	१२. बोधि-दुर्लभता।

इसका बार-बार चिन्तन करने से मोह क्षीण होता है, चित्त शुद्ध होता है—सतुलित होता है और कर्तव्य मे स्थिरता प्राप्त होती है।

२०. चार भवनाए और है ·

१. मैत्री	३ करुणा
२. प्रमोद	४ मध्यस्थता।

इनसे आत्मौपम्य, गुण-ग्रहण-वृत्ति, मृदुता और तटस्थता का विकास होता है।

२१ उपशम आदि की दृढ भावना करने से—उनका बार-वार दृढ अभ्यास करने से क्रोध आदि पर विजय प्राप्त होती है।

भावना

'कटकात् कटकमुद्धरेत्'—काटे से काटा निकालने की नीति साधन्रा के क्षेत्र मे भी लागू होती है। चित्त को वासनाओ से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है, पर पहले ही चरण मे दीर्घकालीन वासनाओ को एक साथ निर्मूल नही किया जा सकता। उन्हे निरस्त करने के लिए नयी वासनाओ की सृष्टि करनी होती है। वे नयी वासनाए यथार्थपरक होती है, इसलिए उनका असत् से सम्बन्धित वासनाओ पर दबाव पडता है और वे उनसे अभिभूत हो जाती है।

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीय ज्ञान या शब्द ज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप, धारणा, सस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिता भी कहा जाता है और ये सब स्वाध्याय के ही प्रकार है।

जैने साधना पद्धति मे 'भावनायोग' शब्द का व्यवहार हुआ है। भावना

से मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है, इसलिए यह योग है। भावना मे ज्ञान और अभ्यास इन दोनो के लिए अवकाश है।

भावनाओ के प्रकार असख्य हो सकते है। उन्हे किसी वर्गीकरण मे नही बाधा जा सकता, फिर भी दिशा-निर्देश के रूप मे एक-दो वर्गीकरण प्रस्तुत किए जा सकते है। प्रथम वर्गीकरण मे वारह भावनाओ का उल्लेख है :

१ अनित्य	७ आस्रव
२. अशरण	८. सवर
३. भव	६. निर्जरा
४ एकत्व	१० धर्म
५. अन्यत्व	११ लोक-सस्थान
६. अशौच	१२. वोधि-दुर्लभता।

अनित्य भावना

जितने सयोग है, उनका अन्त वियोग मे होता है—सयोग विप्रयोगाऽन्ता· —फिर भी चिर सम्पर्क के कारण मनुष्य सयोग को शाश्वत मान वैठता है और जव उसका वियोग होता है, तव वह उसके लिए आकुल हो उठता है। यह आकुलता, दुःख और ताप वस्तु के वियोग से नही होता किन्तु उसके सयोग के प्रति शाश्वत की भावना होने से होता है। अनित्य भावना का प्रयोजन चित्त मे (सयोग और वस्तु की नश्वरता के प्रति) अशाश्वतता की भावना को पुष्ट बनाए रखता है। इस भावना का अभ्यासी साधक वियोग को नही रोक सकता किन्तु उससे प्रवाहित होने वाली दु.ख की धारा को रोक सकता है।

अशरण भावना

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओ के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दु·ख, अशान्ति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है। वह उस सघर्प मे विजयी होने के लिए दूसरो का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन मे सहारा, त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह

तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुपार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है, इसलिए वस्तुतः सहारा, त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ मे ही है, अन्यत्र नही है। इस अतिम सचाई के आधार पर स्वयं मे स्वय का त्राण खोजना और दूसरो के त्राणदान मे ऐकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना—अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्तृत्व प्रबल हो उठता है और दूसरो के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नही होता।

भव भावना

इस दुनिया मे सब प्राणी समान नही है और सब मुनष्य भी समान नही है। बुद्धि, वैभव और क्षमता भिन्न-भिन्न है। जिसके पास ये साधन होते है, उसका मन गर्व से भर जाता है और जिसके पास ये नही होते है, उसमे हीन भावना पनपती है। इस दोहरी बीमारी की चिकित्सा भव-भावना है। यह ससार परिवर्तनशील है। इसमे कोई भी व्यक्ति निरन्तर एक स्थिति मे नही रहता। एक जन्म मे एक व्यक्ति अनेक स्थितियों का अनुभव कर लेता है। अनेक जन्मो में तो वह न जाने क्या-क्या अनुभव करता है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन की भावना से भावित होता है, उसके मन मे गर्व या हीन भावना की बीमारी पैदा नही होती।

एकत्व भावना

आदमी अपने बाहरी वातावरण मे अकेला नही है। वह सामुदायिक जीवन जीता है और सबके वीच मे रहता है किन्तु वह सब बातो मे सामुदायिक नही है। सामुदायिक जीवन के प्रवाह से आने वाली समस्याओं से अपने मन को खाली वही रख सकता है, जिसे व्यावहारिक सम्बन्धो के बीच अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। जिसे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की अनुभूति होती है, वह बाहरी समस्याओ का सामना करते हुए भी अपने अन्तस् मे समस्या से मुक्त रहता है। बाहर के वातावरण मे समुदाय के बीच मे रहते हुए भी वह अन्तस् मे अकेला रहता है और बाहरी जीवन में व्यस्त रहते हुए भी अन्तस् मे व्यस्तता से मुक्त रहता है।

अन्यत्व (विवेक) भावना

मनुष्य का सवसे निकट सम्वन्ध शरीर से होता है। शरीर और आत्मा मे भेदानुभूति नही होती। जो शरीर है वह मै हू, और जो मै हूं वह शरीर है—इस अभेदानुभूति के आधार पर ही मनुष्य के ममत्व का विस्तार होता है। सम्यग् दर्शन का मूल अन्यत्व भावना है। इसे विवेक भावना या भेदज्ञान भी कहा जाता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता की भावना पुष्ट होने पर मोह की ग्रन्थि खुल जाती है। सहज ही मन स्थिर हो जाता है। इसीलिए पूज्यपाद ने इस भावना को तत्त्वसग्रह कहा है—जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसग्रह ।

अशौच भावना

पुद्गलो के बाहरी सस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमे मन आसक्त हो जाता है। चमड़ी के भीतर जो है, वह आकर्षक नही है। बाहरी सस्थान के साथ आन्तरिक वस्तुओ का वोध करना—उन्हे साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है। प्राणी के शरीर मे रहने वाले अशुचि पदार्थ, मृत शरीर की दुर्गन्ध आदि का योग होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है।

आस्रव-संवर भावना

बाहर से कुछ लेना, उसे संचित करना, उससे प्रभावित होना और उसके अनुरूप अपने आपको ढालना—ये सव आश्रव की प्रक्रियाए है। यही मानसिक चचलता की प्रक्रिया है। सवर की क्रिया इसकी प्रतिपक्ष है। बाहर से कुछ भी लिया नही जाएगा तो उससे प्रभावित होने की परिस्थिति ही उत्पन्न नही होगी। इस स्थिति मे मानसिक स्थिरता अपने आप हो जाती है।

निर्जरा भावना

विजातीय द्रव्य संचित होता है तब शरीर अस्वस्थ बनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वयं स्वस्थ बन जाता है। बाहरी सचय का निर्जरण होने पर मानसिक चचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते है। निर्जरा

का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नही जानता, वह ध्यान का मर्म नही जान सकता।

धर्म भावना

धर्म आत्मा का सहज परिणमन है। निमित्त मिलता है, क्रोध उभर आता है किन्तु कोई भी आदमी प्रतिक्षण क्रोध नही करता और कर भी नही सकता। क्षमा प्रतिक्षण की जा सकती है क्योकि वह उसका सहज रूप है।

ऋजुता हर क्षण मे हो सकती है किन्तु माया का आचरण हर क्षण मे नही होता। धर्म की भावना का अर्थ है—आत्मा के स्वाभाविक रूप की खोज करना। इसमे इन्द्रिया अन्तर्मुखी हो जाती है और मन अपने अस्तित्व के मूल प्रवाह मे विलीन हो जाता है।

लोक-संस्थान भावना

यह लोक विविधताओ की रगभूमि है। इसमे अनेक सस्थान और अनेक परिणमन है। उन सबमे एकत्व या समत्व की अनुभूति कर घृणा, अभिमान और हीन भावना पर विजय पायी जा सकती है। समत्व की साधना के लिए इस भावना के अभ्यास का बहुत महत्त्व है।

बोधिदुर्लभ भावना

बोधि के तीन प्रकार है—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि। सहजतया मनुष्य का आकर्षण ऐश्वर्य और सुख-सुविधा मे होता है, किन्तु वे ही दु ख के हेतु बनते है, इस स्थिति को मनुष्य भुला देता है। प्रस्तुत भावना में मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस जगत् मे दुर्लभ क्या है ? धन-सम्पदा और सुख-सुविधा वस्तुत. दुर्लभ नही हैं। दुर्लभ है मानसिक शान्ति। वह धन-सम्पदा और सुख-सुविधा से प्राप्त नही होती किन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दृष्टिकोण और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होती है।

मन की शान्ति का हेतु बोधि है। कारण प्राप्त होने पर कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। बोधि प्राप्त होने पर मन की शान्ति का

प्रश्न जटिल नही होता।

दूसरे वर्गीकरण मे चार भावनाओ का उल्लेख है

१. मैत्री

२. प्रमोद

३. कारुण्य

४. माध्यस्थ्य।

मैत्री भावना

पैर मे काटा चुभा हुआ है। सर्दी की रात है। उसकी चुभन वरवस ध्यान खीच लेती है। शत्रुता भी एक कांटा है। स्मृति उनके लिए सर्दी की रात है। जव-जव स्मृति आती है, तव-तव मानसिक चुभन प्रखर हो उठती है। दूसरे को शत्रु मानने वाला, जिसको वह शत्रु मानता है, उसका अनिष्ट कर पाता है या नही कर पाता किन्तु अपना अनिष्ट अवश्य कर लेता है। मैत्री की भावना का यह प्रवल आधार है। शत्रु की याद आते ही मानसिक प्रसन्नता विषाद मे वदल जाती है। इसलिए समझदार व्यक्ति किसी को शत्रु मानकर अपने मन को कलुषता के दलदल मे कैसे फासना चाहेगा ?

सवके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसे किसी से भी भय नही होता। शत्रुता और भय, मैत्री और अभय--ये दो युगल है। जिसका मन भय से भरा होता है, वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन मे भय नही होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है किन्तु शत्रु नही मानता। सव जीवो के हित-चिन्तन का वार-वार अभ्यास करने से मैत्री का सस्कार पुष्ट होता है।

प्रमोद भावना

ईर्ष्या उस व्यक्ति के मन मे पैदा होती है जिसे आत्मिक समानता मे विश्वास नही होता। जो मानता है कि हर आत्मा समान है, हर आत्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है, हर आत्मा को विकास करने का अधिकार है और हर आत्मा उसका विकास कर सकती है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास देखकर ईर्ष्यालु नही होता

किन्तु प्रसन्न होता है। ईर्ष्या नास्तिकता का चिह्न है। क्या आत्म-निष्ठ व्यक्ति आत्म-विकास पर एकाधिकार मान सकता है ?

दूसरे के विकास को नकारने का अर्थ गुणों की श्रेष्ठता को नकारना है। यदि गुणो की अच्छाई मे हमारा विश्वास है तो वे किसी मे भी प्रकट हुए हो, हमारे लिए अभिनन्दनीय है। इस चिन्तन की पुष्टि से मानसिक हर्ष निश्छिद्र और अव्यवच्छिन्न बन जाता है।

कारुण्य भावना

सुदूर क्षितिज मे बिजली का कौधना देखकर हमें वादलो के अस्तित्व का बोध हो जाता है। इसी प्रकार अन्त करण मे करुणा का प्रवाह देखकर हम जान पाते है कि अमुक व्यक्ति मे सत्य की जिज्ञासा है। उसे सत्य का कुछ साक्षात् हुआ है और उसका दृष्टिकोण समीचीन है। क्रूरता का विसर्जन किए बिना कोई भी आदमी सत्य की दिशा मे गतिशील नही हो सकता। इस अनुभूति की तीव्रता के द्वारा मनुष्य मे करुणा का सस्कार सुदृढ हो जाता है।

माध्यस्थ्य भावना

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुरक्त होने और उससे भिन्न वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्विष्ट होने का अर्थ पक्षपात है। पक्षपात यानी विषमता। राग और द्वेष से होने वाले अन्याय के परिणामो को समझे बिना क्या कोई भी व्यक्ति मानसिक झुकाव से बच सकता है ?

कोई व्यक्ति उन्मार्ग की ओर जा रहा है। उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना कर्तव्य है किन्तु बल-प्रयोग के द्वारा उस कर्तव्य की पालना नही हो सकती। हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न करने पर भी यदि सामने वाला व्यक्ति उन्मार्ग से विमुख नही होता है तो उसके लिए प्रतीक्षा ही की जा सकती है किन्तु क्रोध करके अपने मन को धूमिल और परिस्थिति को जटिल वनाना समुचित नही हो सकता। उलझन-भरी परिस्थिति व वातावरण मे अपने मानसिक सतुलन को बनाये रखने का अभ्यास करने, न्याय के प्रति दृढ निष्ठा होने तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त मे आस्था होने से मध्यस्थता का सस्कार सुस्थिर होता है।

कषाय

क्रोध, अभिमान, माया और लोभ—इन चारो को एक शब्द मे कपाय कहा जाता है। इनके द्वारा मन रजित होता है—अपनी सहज साम्यपूर्ण स्थिति को खोकर इनके रग मे रग जाता है। इसलिए इन्हे कपाय कहना सर्वथा उपयुक्त है। कपाय के द्वारा मानवीय गुण विनष्ट होते है। जैसे—

१. क्रोध से प्रेम

२. अभिमान से विनय

३ माया से मैत्री

४. लोभ से सर्वगुण।

इन्हे बल-प्रयोग से नही मिटाया जा सकता। इन पर विजय पाने के लिए प्रतिपक्ष भावना का आलम्बन लेना उपयोगी होता है। उपशम (शान्ति) की भावना को पुष्ट करने—उपशम के विचार को वार-बार दोहराने से क्रोध सहज ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार मृदुता की भावना को पुष्ट करने से अभिमान, ऋजुता की भावना को पुष्ट करने से माया और संतोष की भावना को पुष्ट करने से लोभ सहज ही विनष्ट हो जाता है।

भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट-सिद्धि मे अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन पर वैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे। फिर मन को शिथिल करे। पाच मिनट तक उन्हे शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जब शिथिल हो जाएं तव उपशम आदि पर मन को एकाग्र करे। इस प्रकार निरन्तर आधा घटा तक अभ्यास करने से पुराने सस्कार विलीन हो जाते है और नये सस्कारो का निर्माण होता है। इस प्रकार का अभ्यास वैयक्तिक रूप मे भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप मे भी कराया जा सकता है।

२२. **शरीर-गण-उपधि-भक्तपान कषायाणां विसर्जनं व्युत्सर्गः॥**

२३. **ध्यानाय शरीर-व्युत्सर्गः॥**

२४. **विशिष्टसाधनायै गण-व्युत्सर्गः॥**

२५. **लाघवाय उपधि-व्युत्सर्गः॥**

२६ **ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्गः॥**
२७ **सहजानन्दलब्धये कषाय-व्युत्सर्गः॥**

२२. शरीर, गण, उपधि, भक्तपान और कपाय का विसर्जन करने को व्युत्सर्ग कहा जाता है।

२३ ध्यान के लिए शरीर का व्युत्सर्ग किया जाता है। उसे त्यक्त, शिथिल, निश्चेष्ट और निष्क्रिय कर देने पर उसका भान नही होता और तनाव समाप्त हो जाता है।

२४ विशिष्ट साधना के लिए गण का व्युत्सर्ग किया जाता है। जो विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न हो, विशिष्ट शरीर-बल सम्पन्न हो तथा गुरु द्वारा अनुज्ञात हो वे ही व्यक्ति अकेले रहकर विशिष्ट साधना करने के अधिकारी है।

२५ लाघव (हल्कापन) के लिए उपधि—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग किया जाता है। बाह्य-उपधि जितने अधिक व्यक्त होते है, उतनी ही लघुता वढती है और वे जितने अधिक होते है, उतना ही भार वढता है।

२६. ममत्व की हानि तथा भेदज्ञान के लिए आहार-पानी का त्याग किया जाता है। शरीर जो है, वह मै नही हू, और मै जो हू, वह शरीर नही है—ऐसा भेदज्ञान होने से ममत्व की हानि होती है और ममत्वहीन होने से आत्मशक्ति का विकास होता है। भक्त-पान का त्याग उसके विकास मे बहुत सहायक है।

२७. सहज आनन्द या वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग किया जाता है। कषाय के द्वारा आत्मा का सहज आनन्द विकृत हो जाता है। उसकी प्राप्ति कपाय दूर होने पर ही होती है।

व्युत्सर्ग

विसर्जन साधना का रहस्य है। जो विसर्जन के महत्त्व को नही जानता, वह साधना के मर्म को नही जानता। अहकार और ममकार—ये दोनो साधना के वाधक तत्त्व है। साधक की पहली कसौटी है—अहकार और ममकार से मुक्त होना।

शरीर-व्युत्सर्ग

ममकार का मूल बीज शरीर है। साधना की पहली कक्षा है—शारीरिक ममत्व का विसर्जन। शारीरिक ममत्व को विसर्जित किए बिना शरीर के भीतर अवस्थित चेतन सत्ता की अनुभूति नही हो सकती। दीपशिखा पर जैसे ढक्कन पडा है, उसी प्रकार शरीर और उसके सहचारी मन और प्राण के द्वारा चैतन्य की शिखा ढकी पडी है। शरीर की चचलता और ममत्व का जैसे-जैसे विसर्जन होता है, वैसे-वैसे हमारी उन्मुखता चैतन्य की ओर होती है। ध्यान का लक्ष्य है चैतन्य की उपस्थिति का सतत अनुभव करना। उसके लिए शरीर की चचलता और ममत्व, ये दोनो त्याज्य है।

गण-व्युत्सर्ग

साधक अकेले मे रहे या सघ मे ? इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने अनैकातिक उत्तर दिया है। भगवान् ने कहा—साधना गाव मे भी हो सकती है और अरण्य मे भी हो सकती है और वह गाव मे भी नही हो सकती और अरण्य मे भी नही हो सकती। जिस व्यक्ति मे आत्माभिमुखता की तीव्रता नही है, उसके लिए अरण्य भी गाव जैसा है और जिस व्यक्ति मे आत्माभिमुखता की तीव्रता है, उसके लिए गाव भी अरण्य जैसा है। इसी प्रकार आत्माभिमुख व्यक्ति सघ मे रहकर भी अकेला रह सकता है। वह अकेले मे रहकर भी वैचारिक अकेलेपन का अनुभव नही कर पाता।

तत्त्व-विचार की भूमिका मे उक्त चितन की यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु मनुष्य की कठिनाई है कि वह पहले ही चरण मे तत्त्व-चिन्तन और व्यवहार की भूमिका मे सामजस्य स्थापित नही कर पाता। सघीय जीवन मे व्यावहारिक कठिनाइया अनायास ही उभर आती है। उसमे विभिन्न रुचिया, संस्कार, चिन्तन और मानदड होते है। वे सामान्य साधना मे विक्षेप डालते भी है या नही भी डालते। किन्तु उसकी विशिष्ट प्रक्रियाओ व प्रयोगो मे वे साधक नही होते। इसीलिए साधना की विशिष्ट प्रक्रियाओ का अभ्यास करने वाला व्यक्ति सघीय जीवन से मुक्त होकर चलता है।

दूसरो के लिए कुछ करना बहुत बडी बात है और केवल अपने लिए

करना स्वार्थ है, इस सत्य को अस्वीकृति नही दी जा सकती। किन्तु इस तथ्य पर भी आवरण नही डाला जा सकता कि सघमुक्त साधना करने का सम्बन्ध प्रयोजन से नही, पद्धति से है। एकान्त मे साधना करने वाले का प्रयोजन अपने लिए और दूसरो के लिए इन दोनो की समष्टि मे व्याप्त है। वह केवल स्वार्थ ही नही है, किन्तु जैसे एक विद्यार्थी, कवि, लेखक या वैज्ञानिक को अपने कार्य के लिए शान्त-नीरव स्थान की अपेक्षा होती है, वैसे ही आत्मानुभूति की गहराई मे पैठने वाले साधक को एकान्त की अपेक्षा होती है। शान्त सरोवर मे कोई ढेला न फेके इस दृष्टि से उसे अकेला रहना आवश्यक होता है। प्रायोगिक काल मे अकेलेपन की उपयोगिता समझ मे आती है। सत्य उपलब्ध होने पर सघ या अकेलेपन का कोई भेद नही होता।

उपधि और भक्तपान व्युत्सर्ग

पदार्थो का सग्रह और उनका ममत्व—ये दोनो अन्तरानुभूति के विघ्न है। पदार्थ स्वत विघ्न नही है किन्तु उनका सग्रह लोभ के कारण होता है, इसलिए वह विघ्न हो जाता है। ममत्व के विना सग्रह होता ही नही और जहा ममत्व होता है वहा अन्तरानुभूति का स्थान बाह्यानुभूति ले लेती है। उस स्थिति मे साधक की चेतना मूर्च्छा से बोझिल बन जाती है। मूर्च्छा का विसर्जन अर्थात् सग्रह का विसर्जन। यह विसर्जन की प्रक्रिया आगे बढते-बढते पदार्थो के पूर्ण त्याग तक पहुच जाती है। भोजन के बिना शरीर का निर्वाह नही हो सकता, किन्तु इस प्रक्रिया मे उसका भी आशिक त्याग प्राप्त होता है और एक बिन्दु आने पर सदा के लिए भोजन का विसर्जन कर दिया जाता है। दैहिक ममत्व का विसर्जन करने के लिए ऐसा करना बहुत आवश्यक है।

ममत्व-विसर्जन हो जाए, फिर सग्रह-विसर्जन की क्या आवश्यकता है ? इस चिन्तन का बाह्य जितना सुन्दर है, उतना अन्तस् यथार्थ नही है। ममत्व-विसर्जन की कसौटी असग्रह है। सग्रह है और ममत्व नही है, यह सामान्य स्थिति नही है। सग्रह नही होने पर ममत्व नही होता, यह व्याप्ति भी नही है। इन दोनो रेखाओ के मध्य मे जो देखा जा सकता है, वह इतना ही है कि ममत्व-विसर्जन के लिए सग्रह का विसर्जन किया

जाए और सग्रह-विसर्जन की यथार्थता के लिए ममत्व-विसर्जन का अभ्यास किया जाए।

क्या कोई शरीरधारी ऐसा हो सकता है, जो शरीर को धारण करे और उसकी माग को पूरा न करे ? भोजन शरीर की आवश्यक माग है। उसे पूरा करना साधक के लिए भी अनिवार्य है। एक ओर शरीर की माग को पूरा करने का प्रश्न है तो दूसरी ओर उसके ममत्व (देहाध्यास) के विसर्जन का प्रश्न है। शारीरिक ममत्व का विसर्जन करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक शरीर की अपेक्षा को पूरा करे किन्तु जितनी अपेक्षा हो उसे अविकल रूप से पूरा न करे। यह देह और आत्मा के भेदज्ञान की ओर प्रगति होने की व्यावहारिक कसौटी है।

कषाय-व्युत्सर्ग

अनुकूल स्थिति और इष्ट वस्तु का योग होने पर मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट का योग होने पर उसे दु·ख का अनुभव होता है। साधारण मनुष्य इसी सुख-दुःख के चक्र मे परिभ्रमित रहता है। सुख के आगे आनन्द नाम की कोई वस्तु है, यह प्रश्नचिह्न भी उसके मन मे नही उभरता। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट के योग मे भी मनुष्य के आनन्द का प्रवाह अविच्छिन्न रह सकता है, यह कल्पना सामान्यत· नही हो सकती। किन्तु आनन्द उसी स्थिति का नाम है जो वाह्य के सयोग या वियोग के आधार पर घटित नही होती।

हर मनुष्य के अन्तस् की गहराई मे आनन्द की असीम धारा प्रवाहित होती है किन्तु प्राणिक और मानसिक आवरणो से वह आच्छन्न है। मोह (कषाय) की राख से उसके अस्तित्व की लौ ढंकी हुई है, इसलिए उसका होना नही होने जैसा है।

ध्यान आदि के अभ्यास से प्राणिक और मानसिक आवरण का विघटन करना काफी प्रयत्न-साध्य है। आत्मानुभूति की गहराई होने पर प्राणिक और मानसिक आवरण विच्छिन्न हो जाते हैं। आत्मानुभूति की गहराई जब निरन्तर हो जाती है, उस समय मोह की ग्रन्थि भी खुल जाती है और मनुष्य सहज आनन्दानुभूति के रस मे परिप्लावित हो जाता है।

चौथा प्रकरण

१ स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता॥

२ आरोग्यवान् दृढ़संहननो विनीतोऽकृतकलहो रसाप्रतिवद्धोऽप्रमत्तोऽनलसश्च॥

३. मुमुक्षुः संवृतश्च॥

४. स्थिराशयत्वमस्य॥

१ जिस व्यक्ति मे स्वरूप-जिज्ञासा—अपना मौलिक रूप जानने की भावना होती है, वही ध्याता—ध्यान का अधिकारी होता है।

२ ध्यान का अधिकारी वही हो सकता है, जो आरोग्यवान् हो, दृढ शरीर वाला हो, विनीत हो, उपशान्त-कलह हो, रसलोलुप न हो, अप्रमत्त हो और आलसी न हो। इसका तात्पर्य यह है कि रोग, शरीर-दुर्वलता, अविनय, कलह, रसलोलुपता, प्रमाद और आलस्य—ये ध्यान की साधना के विघ्न है। मन को अनुशासित वही कर सकता है, जो इनसे वचे।

३ वही व्यक्ति ध्यान का अधिकारी होता है, जो मुमुक्षु और सवृत है। जिसमे मुक्त होने की इच्छा होती है, वह मुमुक्षु कहलाता है। जिसमे सवरण की क्षमता होती है, वह सवृत होता है।

४. ध्यान के द्वारा ध्याता का आशय स्थिर हो जाता है—चित्त की चचलता दूर हो जाती है।

ध्यान की योग्यता

किसी एक विन्दु पर एकाग्र होना, विचारो को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना या विचारातीत होना सरल कार्य नही है। इन सबके लिए शारीरिक और मानसिक विकास की अपेक्षा होती है। शारीरिक चचलता

को विसर्जित किए विना क्या कोई व्यक्ति ध्यान का अधिकारी बन सकता है ? मानसिक अभ्यास को पुष्ट किए विना क्या कोई ध्यान का अधिकारी वन सकता है ? ध्यान की पहली योग्यता है—स्वरूप की जिज्ञासा। जो दृश्य है—वह स्वरूप नही है। अपना अस्तित्व नहीं है। जो निजी अस्तित्व है वह वहुत सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने के कारण वह चर्म चक्षु द्वारा दृश्य नही है। उसे देखने की उत्कट आकांक्षा हुए बिना वह दिखाई भी नही देता।

प्रारम्भ मे ध्यान वहुत सरस नही लगता। स्थूल प्रवृत्ति को छोडकर निष्क्रिय मुद्रा मे वैठ जाना अच्छा लग भी कैसे सकता है ? किन्तु ऐसा वही कर सकता है जिसके मन मे इस स्थूल शरीर के भीतर छिपे हुए सूक्ष्म परमतत्त्व को जानने की उत्कट आकाक्षा प्रकट हो जाती है।

निशाना साधने मे भी एकाग्रता होती है। प्रिय का वियोग होने पर उसे पाने और अप्रिय का सयोग होने पर उसे दूर करने के लिए भी मन एकाग्र वनता है, किन्तु उस एकाग्रता से चित्त निर्मल नही होता। फलत उससे परमतत्त्व प्रकाशित नही होता। उसे प्रकट करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है और चैत्तिक निर्मलता के लिए अपने दोषातीत अस्तित्व पर चित्त को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया मे स्वरूप की जिज्ञासा ध्यान का पहला सोपान है।

स्वरूप की जिज्ञासा के प्रवल होने पर साधक मे दो विशेष गुण विकसित होते है

१. मुमुक्षा २. सवृतत्व

मुमुक्षा का अर्थ है—उन सारी प्रवृत्तियों से मुक्त होने की इच्छा, जो स्वरूप की उपलब्धि मे वाधक वनती है। दूसरे शब्दो मे वह स्वतत्रता जो परिस्थिति आदि से भी प्रताडित नही होती। यह (मुमुक्षा) जितनी समर्थ होती है, उतनी ही ध्यान की क्षमता वढती है। इसलिए ध्याता का मुमुक्षु होना जरूरी है।

संवृतत्व का अर्थ है—इन्द्रिय और मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। उनकी वहिर्मुखी प्रवृत्ति रहती है तव तक साधक वैपयिक सुखो से विरक्त नही होता। वैपयिक सुखो की अनुरक्ति होना ध्यान के लिए अनुकूल नही है। इसलिए ध्याता का सवृत होना जरूरी है।

स्वरूप की जिज्ञासा होने पर भी ध्यान की सफलता पाना निश्चित नही है। उसके अनेक विघ्न है। उनका निरसन किए बिना ध्याता आगे नही वढ सकता। स्थूल दृष्टि के अनुसार ध्यान के विघ्नो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है

१ रोग

२ शारीरिक सहनन (अस्थि-रचना) की दुर्वलता

३ उद्दण्ड मनोभाव

४ झगडालू मनोवृत्ति

५. खाद्य-सयम का अभाव

६. प्रमाद (विस्मृति)

७ आलस्य

इन विघ्नो मे कुछ शारीरिक है और कुछ मानसिक। शारीरिक विघ्नो को आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा निरस्त किया जा सकता है और मानसिक विघ्नो को दूर करने के लिए सतत जागरूक रहना जरूरी है। अपने स्वरूप के प्रति जागरूक रहना ध्यान का प्रथम या अतिम उपाय है अथवा वही ध्यान है।

हम ध्यान की उपयोगिता को तभी अस्वीकार कर देते यदि उसके द्वारा चित्त की स्थिरता प्राप्त नही होती। एक सीमा तक चित्त की चचलता सह्य होती है, किन्तु उसकी चचलता पर कोई नियत्रण नही होता तब वह आगे से आगे वढती जाती है। एक दिन उसका बढना असह्य हो उठता है। यही मानसिक अशान्ति है। इसके निवारण का उपाय या मानसिक शान्ति का उपाय है—चंचलता की मात्रा को फिर से कम करना। यह कार्य ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है।

५. ईषदवनतकायो निमीलितनयनो गुप्तसर्वेन्द्रियग्रामः सुप्रणिहितगात्रः प्रलम्वितभुजदण्डः सुश्लिष्टचरणः पूर्वोत्तराभिमुखो ध्यायेत्॥

६. पद्मासनादिषु निषण्णो वा॥

५ ध्यान करने वाला व्यक्ति शरीर को आगे की ओर थोडा-सा झुकाकर, नेत्रो को मूदकर, इन्द्रियो को विषयो से निवृत्त कर, शरीर को सुस्थिर व शिथिल वनाकर, वाहो को घुटनो की ओर प्रलम्बित कर, पैरो की एडियो को परस्पर मिलाकर पूर्व या उत्तर

दिशा की ओर मुह कर ध्यान करे।

६. अथवा पद्मासन आदि लगाकर ध्यान करना चाहिए।

ध्यान-मुद्रा

ध्यान की परिपक्वता होने के पश्चात् चाहे जिस मुद्रा मे ध्यान किया जा सकता है, किन्तु जव तक उसका अभ्यास परिपक्व नही होता, तव तक कुछ निश्चित मुद्राओ मे वैठकर ध्यान करना उपयोगी होता है।

ध्यान खडे होकर भी किया जा सकता है और वैठकर भी किया जा सकता है। खडे होकर ध्यान करने की मुद्रा को कायोत्सर्ग कहा जाता है। उसका निश्चय शारीरिक और मानसिक सम्वन्ध के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत मुद्रा मे मुख्य वाते ये है ·

१ शरीर का आगे की ओर थोडा-सा झुका हुआ होना।

२ आंखो को मूदना या अधखुली रखना।

३. इन्द्रियो का सयम करना।

४ शरीर को स्थिर रखना।

५ भुजाओ को लटकाकर घुटने से सटाए रखना।

६ पैरो की एडियो को सटाए व दोनो पजो के वीच चार अगुल का अन्तर रखना।

७ पूर्व या उत्तर दिशा के अभिमुख होना।

ध्यानकाल मे शरीर सीधा होना चाहिए। यह ध्यान का सामान्य नियम है। आगे की ओर थोडा झुकने का अर्थ उस नियम का अतिक्रमण नही है। मानसिक एकाग्रता के साथ श्वास का गहरा सम्वन्ध है। फेफडे और गले को थोडा आगे झुकाने से श्वास के समीकरण की सुविधा होती है। इस दृष्टि से इसका वहुत महत्त्व है।

मानसिक एकाग्रता के लिए आखो का सयम होना अत्यन्त अनिवार्य है। चंचलता की वृद्धि मे उनका बहुत वडा योग है। आंखे मूद लेने पर चाक्षुप एकान्त हो जाता है। उन्हे अधखुला भी रखा जा सकता है। नासाग्र या किसी चक्र पर एकाग्र किया जाए तो उन्हे खुला भी रखा जा सकता है। ध्यान मे केवल चाक्षुप एकान्त ही अपेक्षित नही किन्तु सभी इन्द्रियो का एकान्त होना आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ध्याता के

लिए सर्वेन्द्रिय-सयम मुद्रा का निर्देश दिया गया है।

शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता का आधार है। इस दृष्टि से शरीर का सुप्रणिधान करना वहुत उपयोगी है। प्रणिधान निर्मलता और स्थिरता के द्वारा प्रकट होता है। शरीर की निर्मलता नाडी-शोधन के द्वारा प्राप्त होती है और उसके होने पर ही वाछनीय स्थिरता प्राप्त होती है।

नाडी-शोधन के लिए समवृत्ति प्राणायाम वहुत उपयोगी है। दिन-रात मे तीन या चार वार समवृत्ति प्राणायाम करने तथा प्रत्येक वार मे ६० से ८० तक की पुनरावृत्ति तक पहुच जाने पर नाडी-शोधन हो जाता है।

खडे होकर ध्यान किया जाता है तव भुजदड का प्रलम्वित होना आवश्यक है। वायीं अजलि पर दायी अजलि टिका तथा दोनो अंजलियो को नाभि से सटाकर भी ध्यान किया जाता है, किन्तु खडे होकर किए जाने वाले ध्यान मे अधिकाशतया प्रलम्बित भुजा की पद्धति ही प्रचलित रही है। इसका हार्द यही होना चाहिए कि ध्यानकाल मे प्रवाहित होने वाली शक्ति तरगे शरीर के बाहर न जाकर पुन उसमे ही समाहित हो जाए।

दोनो पैर परस्पर सटे हुए होने चाहिए। दोनो एडिया भी सटी हुई होनी चाहिए किन्तु पजो के वीच मे चार अगुल का अन्तर रहना आवश्यक है। इसमे लम्वे समय तक स्थिर मुद्रा मे अभ्यास करने मे सुविधा होती है। शिथिलता या स्थिरता प्राप्त करने मे अधिक कठिनाई नही होती।

हमारा जगत् सक्रमणशील है। इसमे वस्तु एक देश से दूसरे देश मे सक्रात होती है और उससे दूसरे द्रव्य प्रभावित होते है। सौर जगत् से जो परमाणु प्रवाह आता है, उससे मनुष्य प्रभावित होता है। देश और काल ये दोनो माध्यम उसके प्रभावित होने मे योग देते है। जैसे विभिन्न महीनो मे आने वाला सौर जगत् का प्रवाह मनुष्य के विभिन्न अगो को प्रभावित करता है, वैसे ही विभिन्न दिशाओ से आने वाला सौर प्रवाह भी मनुष्य के विभिन्न अगो और चैतन्य केन्द्रो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। ध्यान के लिए पूर्व और उत्तर दिशा से आने वाले सौर जगत् के तत्त्व-प्रवाह अधिक अनुकूल होते है। इसीलिए ध्याता को पूर्व और उत्तर दिशा की

ओर मुह कर ध्यान करने का निर्देश दिया गया है।

खड़े होकर ध्यान करना कठिन कार्य है। बैठकर ध्यान करना उससे सरल हैं। इसमे शारीरिक तनाव का विसर्जन अधिक सरलता से किया जा सकता है। बैठकर किए जाने वाले पद्मासन आदि अनेक आसन हे। वे सभी आसन ध्यान के लिए विहित है। किन्तु वैसे आसनों मे ध्यान करना विहित नही है जो शरीर के लिए कष्टकर हो। इस विषय मे कुछ आचार्यो का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने लिखा है कि वर्तमान मे शरीर का सहनन बहुत दृढ नही है। इसलिए ध्यान के लिए पद्मासन और कायोत्सर्गासन—इन दो ही आसनो का प्रयोग करना चाहिए। यह कोई नियम नही है किन्तु वर्तमान की स्थिति का विवेक है।

ध्यान सोकर भी किया जा सकता है। उसका व्यवहार सामान्यत प्रचलित नही है किन्तु सोकर ध्यान न करना, ऐसा नियम भी नही है। अभ्यासकाल मे आसन आदि पर अधिक ध्यान देना आवश्यक होता है। अभ्यास के परिपक्व होने पर चाहे जिस मुद्रा या आसन मे ध्यान किया जा सकता है।

७. **ग्रामागार-शून्यगृह-श्मशान-गुहोऽवन-पर्वत-तरुमूल-पुलिनानि ध्यानस्थलानि॥**

८ **भूपीठ-शिलाकाष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि॥**

७. गाव, घर, शून्यगृह, श्मशान, गुफा, उपवन, पर्वत, वृक्षमूल, नदी का पार्श्व भाग आदि ध्यान करने के लिए उपयुक्त स्थल है।

८. भूपीठ, शिलापट्ट—ये बैठने के लिए उपयुक्त आसन है। ध्यान के आसन पहले बताए जा चुके है।

ध्यान-स्थल

ध्यान कहा किया जाए ? इस प्रश्न का भी अपने आप मे महत्त्व है। वस्तु का जैसे महत्त्व होता है, वैसे ही उसके क्षेत्र (आधारस्थल) का भी महत्त्व होता है। ध्यान के लिए सर्वाधिक समुचित क्षेत्र वही है, जहा कोलाहल न हो। एकाग्र होने मे बाधा डालने वाली कोई भी वस्तु न हो। शून्यगृह, श्मशान आदि स्थलो का चुनाव इसी दृष्टि से किया गया है। किन्तु ध्यान एकान्त स्थलो मे ही किया जाए, यह अनिवार्य नही है। वह

गाव, जनाकुल घर मे भी किया जा सकता है। उपवन आदि का चुनाव इसलिए किया गया कि उसमे पर्याप्त प्राणवायु प्राप्त हो सके।

स्थल के सम्वन्ध मे कोई निश्चित रेखा नही खीची जा सकती, किन्तु इस विषय मे इतना ही निर्देश किया जा सकता है कि वह स्वच्छ, नीरव, प्रशस्त और प्राणवायु से परिपूर्ण होना चाहिए। स्थल के विषय में एक विशेप बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि ध्यान एक निश्चित स्थान मे किया जाए तो उसकी सिद्धि शीघ्र होती है।

दूसरी वात यह है कि विचार सक्रमणशील होते है। एक मनुष्य के विचारो का दूसरे मनुष्य के विचारो पर असर होता है। बुरे विचारो का सक्रमण न हो, इस दृष्टि से ध्यान-स्थल का एकान्त होना आवश्यक है।

ध्यानोचित आसन

ध्यानकाल मे बैठने के आसनो का भी वहुत महत्त्व है। मृत्तिका, शिलाखण्ड और काष्ठ—ये शरीर के तापमान को सन्तुलित और स्थिर वनाए रखते है और विजातीय तत्त्वो के प्रभाव से वचाते है, इसलिए इनका विशेप महत्त्व है। सात्त्विक वस्त्रासन भी ध्यानकाल मे उपयोग मे लाये जाते है।

९. सालम्वन-निरालम्वनभेदाद् ध्यानं द्विधा॥
१०. पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीतभेदादाद्यं चतुर्धा॥
११ शारीरालम्वि पिण्डस्थम्॥
१२ शिरो-भ्रू-तालु-ललाट-मुख-नयन-श्रवण-नासाग्र-हृदय-नाभ्यादि शारीरालम्वनानि॥
१३. धारणालम्वनं च॥
१४ प्रेक्षा वा॥
१५ ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धो धारणा ॥
१६ पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा॥
१७ स्वाधारभूतानां स्थानानां वृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्शः॥
१८. तत्रस्थस्य निजात्मनः सर्वसामर्थ्योद्‌भावनं पार्थिवी॥
१९ नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेषदोषदाहचिन्तनमाग्नेयी॥
२० दग्धमलापनयनाय चिन्तनं मारुती॥

२१ महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तनं वारुणी॥

२२ श्रौतालम्वि पदस्थम्॥

२३ संस्थानालम्वि रूपस्थम्॥

२४. सर्वमलापगतज्योतिर्मयात्मालम्वि रूपातीतम्॥

२५ तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायाद् वैलक्षण्यम्॥

६ ध्यान के दो प्रकार है :

१. सालम्वन—आलम्वन-सहित।

२ निरालम्वन—आलम्वन-रहित।

१०. सालम्बन ध्यान के चार प्रकार है -

१ पिण्डस्थ

२. पदस्थ

३ रूपस्थ

४ रूपातीत

११ जिस ध्यान मे शरीर के किसी अवयव का आलम्वन लिया जाता है, वह पिण्डस्थ कहलाता है।

१२ सिर, भ्रू, तालु, ललाट, मुह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय और नाभि—ये शारीरिक आलम्बन है।

१३. धारणा का आलम्वन लेने वाले ध्यान को भी पिण्डस्थ कहा जाता है।

१४ स्थूल और सूक्ष्म शरीर की सवेदनाओ और क्रियाओ तथा मानसिक वृत्तियो के दर्शन के अभ्यास को प्रेक्षा कहा जाता है। यह भी एक प्रकार का पिण्डस्थ ध्यान है।

१५ चित्त को किसी एक देश मे सन्निविप्ट करने को धारणा कहा जाता है।

१६ धारणा के चार प्रकार है

१. पार्थिवी　　२ आग्नेयी

३. मारुती　　४ वारुणी

१७ आसनस्थित होकर मेरे आधारभूत स्थान (समुद्र, पर्वत आदि) विशाल और विशद है—ऐसा अनुभव करना चाहिए।

१८. फिर उन पर अपने को स्थित मानकर अपने सर्वशक्ति-सम्पन्न

वीतराग स्वरूप की अनुभूति करनी चाहिए। अनुभूति को पुष्ट करते-करते चित्त उसी मे विलीन हो जाना चाहिए। यह पार्थिवी धारणा है।

१६ नाभिकमल प्रज्वलित होने के कारण सब दोष दग्ध हो रहे है—इस अनुभूति को आग्नेयी धारणा कहा जाता है।

नाभिकमल स्थित त्रिकोण अग्निकुण्ड मे अग्नि प्रज्वलित हो रही है, उससे सारे दोप भस्म हो रहे है —ऐसी धारणा करते-करते चित्त उसमे लीन हो जाना चाहिए।

२० नाभिकमल मे दोपो के चलने से जो भस्म होती है, उसे तेज वायु का झोका उडाकर ले जा रहा है—ऐसा चिन्तन करना मारुती धारणा है।

२१ शेष भस्म का प्रक्षालन करने के लिए विशाल मेघराशि की अनुभूति करने को वारुणी धारणा कहा जाता है।

२२ ॐ, ही, ई, णमो अरहताण, अ सि आ उ सा आदि शव्द-मत्रो, श्रुत (शव्दो या नामों) का आलम्बन ले जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहा जाता है।

२३ जिस ध्यान मे सस्थान (आकृति विशेप) का आलम्वन लिया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

२४ सर्वमलातीत ज्योतिर्मय आत्मा के अमूर्त स्वरूप का आलम्वन लेने को रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

२५ ध्यान के प्रारम्भ मे स्वाध्याय होता है, चिन्तन होता है, फिर भी ध्यान और स्वाध्याय एक नही है। स्वाध्याय मे विषय की तन्मयता नही होती, समरसीभाव नही होता। ध्यान मे तन्मयता होती है, समरसीभाव होता है। ध्यान करने वाला चिन्तन करते-करते उसमे लीन हो जाता है, तन्मय हो जाता है। यह तन्मयता या लय ही ध्यान है। इस दशा मे ध्येय और ध्याता मे अभेद हो जाता है। परमात्मा के ज्योतिर्मय या आनन्दमय स्वरूप मे लीन होकर ध्याता स्वयं वैसा बन जाता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान शब्द की कल्पना करते ही हमारे सामने दो स्थितियां उभर आती है :

१. मन की एकाग्रता।

२ मन का निरोध।

एकाग्रता निर्विषय नही होती। वह किसी वस्तु या अवस्था पर निर्भर होती है। एकाग्रता की तुलना उस बच्चे से की जा सकती है जो माता की अगुली के सहारे चलने का अभ्यास करता है। निरोध की तुलना उस किशोर से हो सकती है जो अपने पैरों के बल चलने लग जाता है। पहले कोई परिकल्पना की जाती है, फिर उस पर मन को स्थिर किया जाता है, यह एकाग्रता है। इसमें मन की स्थिरता लक्ष्य के सहारे होती है, इसलिए इस एकाग्रतात्मक धर्म को सालम्बन ध्यान कहा जाता है।

मन का निरोध विपय-शून्यता की स्थिति मे होता है। जब मन खाली हो जाता है, उसके सामने कोई खाली विपय नहीं रहता तब वह अपने आप निरुद्ध हो जाता है। जब मन मे कोई कल्पना नही होती तव उसके सामने कोई शब्द नहीं होता, कोई आकार नही होता। शब्द और रूप के अभाव मे वह निरालम्वन हो जाता है और निरालम्बन होने का अर्थ है कि उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। यही निरालम्वन ध्यान है।

ध्यान के आलम्बन असंख्य हो सकते है किन्तु ध्यान की लम्वी परम्परा मे साधक वर्ग ने कुछ विशेप अनुभव प्राप्त किये हें। उनके आधार पर ध्यान के आलम्वनो का वर्गीकरण किया गया है। वह वर्गीकरण ध्यान के प्रकारो का निमित्त बना है।

स्थूल व्यवहार की भाषा मे एकाग्रता को हम एक कोटि मे रख देते है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उसकी असख्य कोटिया है। एक व्यक्ति एक क्षण मे जितना एकाग्र होता है, दूसरे क्षण मे उससे अधिक या कम एकाग्र भी हो सकता है। एक आदमी जितना एकाग्र होता है, दूसरा उससे कम या अधिक भी हो सकता है। इस प्रकार काल-क्रम और व्यक्ति-भेद की दृष्टि से एकाग्रता की असख्य कोटिया हो जाती हैं। इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के असंख्य प्रकार हो जाते है। किन्तु इस सूक्ष्म पद्धति के आधार पर ध्यान की कोटियां निश्चित नही की गई है। उसकी चार कोटियां हैं

और वे आलम्वन के वर्गीकरण के आधार पर निर्धारित की गई है।
आलम्वन चार रूपो मे वर्गीकृत है :

१ पिण्ड (शरीर) ३ रूप (आकार)
२ पद (शब्द) ४ रूपातीत (निराकार)

इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के चार प्रकार वन जाते हैं :

१. पिण्डस्थ—पिण्ड के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
२ पदस्थ—पद के आलम्वन से होनी वाली एकाग्रता।
३. रूपस्थ—रूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
४ रूपातीत—अरूप के आलम्वन से होने वाली एकाग्रता।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थ ध्यान मे शरीर का आलम्बन लिया जाता है। आत्मा और शरीर मे एकत्व नही है, किन्तु उनका संयोग है। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन। अत आत्मा और शरीर स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है। शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति मे सहयोग करता है, इसलिए उसमें सर्वथा भेद भी नही है। इस दृष्टि से सशरीर आत्मा न केवल चेतन और न केवल अचेतन है, किन्तु जात्यान्तर है—चेतन और अचेतन का सयोग है। प्राणशक्ति, भाषा, इन्द्रिय और चिन्तन—ये न चेतन के लक्षण है और न अचेतन के लक्षण है किन्तु चेतन और अचेतन की समन्वित अवस्था के लक्षण है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति और शरीर का पौद्‌गलिक सहयोग, ये दोनों मिलकर सशरीर आत्मा के अस्तित्व को प्रकट करते हैं।

शरीर के पाच प्रकार है :

औदारिक—यह अस्थि-मासमय स्थूल शरीर है।
वैक्रिय—यह अस्थि-मांसरहित स्थूल शरीर है। यह योगी के भी हो सकता है।
आहारक—यह योगज शरीर है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान मे प्रेपित किया जा सकता हैं।
तैजस—यह विद्युत् शरीर है।
कार्मण—यह मूल शरीर या संस्कार शरीर है।

तैजस और कार्मण दोनो सूक्ष्म शरीर है।

चैतन्य का विस्तार बाह्यजगत् की ओर होता है, तब उसकी गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर होती है और जव वह बाह्यजगत् से अन्तर्जगत् मे लौटता है तव उसकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है।

स्थूल शरीर की निष्पत्ति कार्मण शरीर के होने पर होती है, इस दृष्टि से वह सव शरीरो का मूल कारण है। स्थूल शरीर भवान्तरगामी नही होते। सूक्ष्म शरीर भवान्तरगामी होते है। उनमे भी भवान्तरगमन के सस्कार कार्मण शरीर में सचित रहते है। इस दृष्टि से यह सस्कार शरीर भी है।

आत्मा का सवसे निकट सम्पर्क कार्मण शरीर से है। आत्मा के चैतन्य और वीर्य सर्वप्रथम इसी मे सक्रान्त होते है। तैजस शरीर उन्हे स्थूल शरीर तक पहुचाता है और स्थूल शरीर के द्वारा वे अभिव्यक्त होते है। इस प्रकार आत्मा के चैतन्य और वीर्य कार्मण शरीर, तैजस शरीर और स्थूल शरीर की क्रमिक प्रक्रिया से वाह्यजगत् तक पहुचते है और वे विपरीत प्रक्रिया से बाह्यजगत् के प्रभाव को आत्मा तक पहुचाते है। वाह्यजगत् का प्रभाव सर्वप्रथम स्थूल शरीर पर होता है। उसे तैजस शरीर कार्मण शरीर तक ले जाता है और कार्मण शरीर के माध्यम से वह आत्मा तक पहुचता है। इस प्रकार तैजस शरीर प्रेपण के माध्यम का काम करता है। योग के आचार्यो ने तेजोमय आत्मा की परिकल्पना की है। आत्मा की तेजोमयता की परिकल्पना का निमित्त यह तैजस शरीर ही है।

कार्मण और तैजस शरीर सूक्ष्म शरीर है, इसलिए इनके अवयव नहीं है। वे अवयव-विहीन शरीर है। वे स्थूल शरीर के अवयवो मे परिव्याप्त है। साधारणतया वे समूचे शरीर मे परिव्याप्त है किन्तु शरीर के कुछ भागो मे वे विशेष रूप से केन्द्रित है। ये केन्द्रित भाग चैतन्य की अभिव्यक्ति के मुख्य केन्द्र है। पिण्डस्थ ध्यान मे इन्ही केन्द्रो पर मन को एकाग्र किया जाता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के शारीरिक केन्द्र ये है

१. सिर	६. नेत्र
२. भ्रू	७. कान
३. तालु	८ नासाग्र
४. ललाट	९. हृदय
५. मुह	१० नाभि

इन केन्द्रो पर ध्यान करने से मन की एकाग्रता सरलता से सधती है और आतरिक ज्ञान विकसित होना हे।

पिण्डस्थ ध्यान मे चक्रो का आलम्वन भी लिया जाता है।

चक्र

'ससारिणा वीर्य निमित्तापेक्ष—ससारी जीव की समस्त शक्तियो का उपयोग निमित्त के योग से ही होता है। जीव मे चेतन्य है, किन्तु उसका उपयोग इन्द्रियगोलको और ज्ञानवाहक स्नायु-गुच्छको के माध्यम से होता है। जीव में वीर्य है किन्तु उसका उपयोग कर्मेन्द्रियो व क्रिया-ततुओ के माध्यम से होता है। ज्ञानवाहक स्नायु-गुच्छको का सम्वन्ध सुपुम्ना नाडी और पृष्ठरज्जु से है। उन्ही सुपुम्नागत ज्ञानवाही गुच्छको को चक्र कहा गया है। वे ज्ञान की अभिव्यजना के निमित्त है, इसलिए उन पर मन को एकाग्र करने से उनमे प्राणधारा प्रवाहित होती है। ज्ञान के सहायक तन्तु सक्रिय हो जाते हैं।

चक्रो के नाम, स्थान आदि अगले पृष्ठ पर देखिए—

वासना-क्षय की दृष्टि से स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान करने का वहुत महत्त्व है।

मणिपुर चक्र पर ध्यान करने से शारीरिक आरोग्य वढता है किन्तु उससे कामशक्ति प्रबल होती है, इसलिए ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है कि वह मणिपुर चक्र पर ध्यान करने के पश्चात् प्राणधारा को हृदय चक्र मे प्रवाहित कर विशुद्धि चक्र तक ले जाए। उसमे उस कामशक्ति का शोधन हो जाता है।

आज्ञा चक्र या भृकुटि चक्र का बहुत महत्त्व है क्योकि इस स्थान मे इडा, पिगला और सुषुम्ना—तीनो का सगम होता है। इसके जागरण से अन्य चक्रो का जागरण सहज हो जाता है और इसका जागरण अन्य चक्रो की अपेक्षा अधिक कठिन और अधिक अभ्यास-सापेक्ष है।

मूलाधार चक्र से ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। उसके ऊर्ध्वगामी होने से मनुष्य की वृत्ति आन्तरिक हो जाती है। ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण का यह आदि बिन्दु है। इसलिए साधना मे इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनाहत चक्र प्राणवायु का स्थल और औजस का मुख्य केन्द्र है—

नाम	स्थान	दल	वर्ण	दल बीजाक्षर	ज्योति	फल
शक्ति केन्द्र मूलाधार	गुदा और लिग का मध्यवर्ती	४	रक्त	व, श, ष, स	शिखाकार स्वर्णिम ज्योति का ध्यान	अध्यात्म-विद्या प्रवृत्ति, आरोग्य
स्वास्थ्य स्वाधिष्ठान	पेडू	६	सिंदूरी	ब, भं, म, यं, र, ल	विजली की रेखा का ध्यान	वासनाक्षय, ओजस्विता
तैजस् मणिपुर	नाभि	१०	नील	ड, ढं, णं, त, थ, द, धं, न, प, फ	बाल-सूर्य का ध्यान	आरोग्य, आत्म-साक्षात्कार, ऐश्वर्य
आनद अनाहत	हृदय	१२	अरुण	क, ख, ग, घं, ङ, च, छ, ज, झ, ट, ठ	अग्निशिखा का ध्यान	यौगिक उपलब्धिया, आत्मस्थता
विशुद्धि विशुद्ध	कण्ठ	१६	धूम्र	अ से अ तक	दीपशिखा का ध्यान	कामना-विजय
दर्शन आज्ञा	भ्रू मध्य	२	श्वेत	ह, क्ष	शरच्चन्द्र की ज्योति का ध्यान	अन्तर्ज्ञान, वाक्सिद्धि
ज्ञान सहस्रार	मस्तिष्क	५०	अवर्ण	अ से क्ष तक	प्रचण्ड तेज का ध्यान	मुक्ति

तत्परस्यौजस स्थान तत्र चैतन्यसग्रह.

—चरक, सूत्रस्थान ३०/७

विकल्प-शून्यता की प्राप्ति के लिए हृदय-चक्र पर ध्यान देना और उसकी गहराई मे उतरना वहुत ही उपयोगी है। हृदय-चक्र पर ध्यान करने से ग्रथि-भेद हो जाता है। उससे आत्म-साक्षात्कार सुलभ हो जाता है।

चक्रो पर ध्यान करने से ज्ञानतंतु जागृत होते है, किन्तु उन्हें जागृत करने का एकमात्र यही उपाय नही है। सयम की प्रखर साधना और प्रबल वैराग्य हो तो चक्रो पर ध्यान किए विना ही वे जागृत हो जाते है।

प्रेक्षा का अर्थ है—प्रकृष्ट या गहरे मे उतरकर देखना। हम वाहर की ओर देखते ही है। हमारी इन्द्रियां और मन, इन सवकी गति वहिर्मुखी है। प्रेक्षा इसका विपरीत क्रम है। इसके द्वारा इन्द्रिया और मन अन्तर्मुखी बनते है। हमारे शरीर मे रासायनिक परिवर्तन होते रहते है। उसके कई हेतु है, जैसे—सर्दी, गर्मी आदि वाहरी वातावरण, भोजन, वर्तमान चित्तपर्याय और कर्म का उदय। जव हम प्रयत्नपूर्वक कर्म का शीघ्र विपाक कर उसे उदय मे लाते है तब और अधिक रासायनिक परिवर्तन होता है। इस रासायनिक परिवर्तन को प्रेक्षा के द्वारा देखा जा सकता है।

प्रेक्षा करते-करते मन सूक्ष्म और सवेदनशील हो जाता है और समूचे शरीर के ज्ञान तन्तु जागृत हो जाते है। इसलिए शरीर मे होने वाले रासायनिक परिवर्तनो को सहज ही जाना जा सकता है।

प्रेक्षा के विशेष प्रयोग

मन को सिर से पाव तक ले जाना, शरीर के प्रत्येक अवयव मे चेतना को प्रवाहित करना और साथ-साथ वेदना को देखना और उसके प्रति तटस्थ रहना प्रेक्षा का पहला चरण है। इसके बाद अर्धचेतन और अवचेतन मन के स्तर पर होने वाली प्रतिक्रियाओ और कर्म विपाको को देखना, यह प्रेक्षा का अग्रिम चरण है। देखना और तटस्थ रहना ये दोनो मिलकर प्रज्ञा को जागृत करते है। उसके जागृत होने पर मोह-चक्र टूट जाता है।

सिर से पाव तक और पाव से सिर तक प्रत्येक अवयव को देखने का अभ्यास पुष्ट हो जाए और दर्शन के साथ-साथ चैतन्य का कण-कण झकृत हो जाए तब एक साथ कई अवयवो पर मन को ले जाना चाहिए। इसका अभ्यास पुष्ट होने पर समूचे शरीर पर एक साथ मन को ले जाना चाहिए। इस अभ्यास से मन पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। फिर हम उसे जहां ले जाना चाहे वहा वह चला जाता है और जहा स्थिर करना चाहे वहा वह स्थिर हो जाता है।

प्रेक्षा मे विशेप ध्यान देने योग्य यह है कि अप्रमाद निरन्तर बना रहे। प्रिय सवेदन के प्रति राग और अप्रिय सवेदन के प्रति द्वेष न जागे। एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व हो, वह प्रेक्षा का उद्देश्य नही है। पर वह इसका सशक्त साधन है। वह इससे सधती है। पहले से सधी हुई हो तो प्रेक्षाकाल मे वह वहुत उपयोगी वन जाती है।

चित्त को किसी निश्चित देश मे स्थिर करना धारणा है। वह शरीर या उससे भिन्न अन्य वस्तुओ पर की जा सकती है। देहाश्रित धारणाए पिण्डस्थ ध्यान की कोटि मे समाविष्ट होती है। धारणा के चार प्रकार है—

१. पार्थिवी ३. मारुती
२. आग्नेयी ४. वारुणी

इनका सम्वन्ध पार्थिव, तैजस, वायवीय और जलीय तत्त्वो से है। साधक ध्यान करने के लिए बैठे और यदि उसे दैहिक धारणाओ के द्वारा पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करना हो तो वह सर्वप्रथम किसी विशाल और निर्मल स्थान पर वैठने की अनुभूति करे और उस अनुभूति को इतना पुष्ट वनाए कि उसे प्राप्त अनुभूति मे तन्मयता प्राप्त हो जाए। उस विशाल और निर्मल आसन पर स्थित होकर अपने पार्थिव शरीर मे असीम शक्ति का अनुचिन्तन करे। यह धारणा की पहली कक्षा—पार्थिवी धारणा है।

आचार्य रामसेन पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि के लिए मारुती, तैजसी और जलीय—इन तीनो धारणाओ को मान्य करते है :

तत्रादौ पिण्ड-सिद्ध्यर्थ, निर्मलीकरणाय च।
मारुती तैजसीमाप्या, विदध्याद् धारणा क्रमात्॥

—तत्त्वानुशासन—१८३

शरीर मे अग्नि का स्थान मणिपूर चक्र या नाभिकेन्द्र है। हमारे तैजस शरीर का मुख्य केन्द्र यही है। इस स्थान मे तैजस का दृढ और चिरन्तन चिन्तन करने से तैजस शरीर जागृत और अधिक क्रियाशील हो जाता है। दृढ सकल्प के द्वारा उसे सक्रिय बनाकर उसके द्वारा समस्त दोषो के क्षय होने का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषक्षय की क्रिया सम्पन्न की जाती हैं।

इसके पश्चात् तीसरी कक्षा मे मारुती धारणा का उपयोग किया जाता है। पवन का काम सफाई करना है। आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषो का दहन होने पर जो भस्म हो जाती है, उसे शरीर के वाहर ले जाने के लिए मारुती धारणा का प्रयोग किया जाता है। समूचे शरीर मे चारो ओर से तेज हवा का प्रवेश हो रहा है और वह नाभिकमल स्थित भस्म को उडाकर वाहर ले जा रही है। इस प्रकार की तीव्र अनुभूति करते-करते साधक को आत्मस्थता का अनुभव होने लगता है।

चौथी कक्षा मे अवशेषो की शुद्धि के लिए वारुणी धारणा का उपयोग किया जाता है। मारुती धारणा के द्वारा दोष-भस्म को बाहर ले जाने पर भी जो कुछ शेष रह जाता है, उसे वारुणी धारणा के द्वारा साफ कर दिया जाता है। साधक अनुभव करता है कि गहरे बादल उमड रहे है। घनघोर वृष्टि हो रही है। उसका जल शरीर में प्रवेश कर नाभिकमल को पखाल रहा है और वह अत्यन्त निर्मल हो रहा है। इस निर्मलता की अनुभूति के साथ अपने आत्मस्वरूप की निर्मलता मे विलीन हो जाए और फिर धारणा से ध्यान की स्थिति मे पहुच जाए।

धारणा के अनेक रूप और प्रकार हो सकते है। इसलिए इसकी व्याख्या भी अनेक रूपो मे की गई है।

पार्थिवी द्रव्यो—चित्र, मूर्ति आदि पर चित्त को स्थिर करना पार्थिवी धारणा है।

दीप आदि तेजोमय पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करना आग्नेयी धारणा है।

वायु के स्पर्श का श्वास-प्रश्वास पर मन को स्थिर करना मारुती धारणा है।

जलाशय के तट पर बैठकर शान्त जल पर दृष्टि को स्थिर करना

वारुणी धारणा है।-

धारणा ध्यान की प्रथम तैयारी है। इसमे चित्त पूर्णत स्थिर नहीं होता किन्तु वह एक दिशा में होते-होते ध्यान की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देता है। फिर साधक धारणा से मुक्त होकर ध्यान की कक्षा में चला जाता है।

पदस्थ ध्यान

यह ध्यान पदो—मंत्रो व वीजाक्षरो के आलम्वन से किया जाता है। पिण्डस्थ ध्यान जैसे देहावलम्वी है, वैसे पदस्थ ध्यान शव्दावलम्वी है। पिण्डस्थ ध्यान मे देहवर्ती चैतन्य-केन्द्र, देह की अंनुप्रेक्षा तथा देह और आत्मा की पृथक्ता—ये मुख्य ध्येय वनते है। पदस्थ ध्यान मे भी शव्द की सूक्ष्म शक्ति, उसके सूक्ष्म और स्थूल उच्चारण की प्रक्रिया और शव्दवर्ती अर्थ के साथ तन्मयता—ये मुख्य ध्येय होते है। इस ध्यान के आधार पर ध्यान-मंत्रो का पर्याप्त विकास हुआ है।

जप भी शव्दावलम्वी होता है और पदस्थ ध्यान भी शव्दावलम्वी होता है। ये दोनो किसी रेखा पर भिन्न होते हैं और किसी रेखा पर अभिन्न हो जाते है। जप का अर्थ है—शव्द की अर्थात्मा मे तन्मय हो जाना। पदस्थ ध्यान मे भी यही तन्मयता अपेक्षित है।

जप के तीन प्रकार है -

१ वाचिक

२ उपाशु

३. मानसिक

उच्चारणपूर्वक किया जाने वाला जप वाचिक होता है। मन्द उच्चारण—होठों से वाहर न निकलने वाले उच्चारण के द्वारा जप उपांशु होता है। उच्चारण से अतीत केवल मानसिक चिन्तन के रूप मे किया जाने वाला जप मानसिक होता है। वाचिक जप से उपांशु और उपांशु जप से मानसिक जप मे शव्द की ऊर्मिया सूक्ष्म होती है और सूक्ष्म होने के कारण वे अधिक शक्तिशाली होती है। इसी आधार पर वाचिक की अपेक्षा उपाशु और उपाशु की अपेक्षा मानसिक जप अधिक शक्तिशाली होता है।

जप पदस्थ ध्यान की पूर्वावस्था है। प्रारम्भ मे वाचिक जप का अभ्यास करना चाहिए। उसका अभ्यास हो जाने पर उपाशु जप का अभ्यास होना चाहिए। उसके पश्चात् मानसिक जप का अभ्यास करना चाहिए। मानसिक जप की अवस्था जव ध्येय पर एकाग्र हो जाती है, तव वह पदस्थ ध्यान के रूप मे वदल जाती है। वाचिक जप मे पद का उच्चारण स्थूल होता है। उपांशु जप मे वह सूक्ष्म हो जाता है। मानसिक जप मे वह चिन्तन का आकार ले लेता है। पदस्थ ध्यान मे वह दृश्य बन जाता है।

पदस्थ ध्यान के लिए इष्ट मत्रो का चुनाव अपनी भावना, रुचि और श्रद्धा के आधार पर किया जा सकता है।

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान

द्रव्य दो प्रकार के होते है—रूपी और अरूपी। आत्मा अरूप है। पुद्गल रूपी है। वह रूपी होने के कारण इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। आत्मा का इन्द्रिय के द्वारा इसलिए ग्रहण नहीं होता कि वह अरूप है। ध्यानकाल मे ये दोनो प्रकार के द्रव्य ध्येय बनते है। रूपी ध्येय स्थूल होता है और अरूपी ध्येय सूक्ष्म। इसीलिए साधक प्रारम्भ मे रूपी ध्येय का आलम्बन लेता है। उस पर मन की एकाग्रता सध जाने पर वह अरूपी ध्येय पर ध्यान का अभ्यास करता है। रूपी ध्येय मे परमाणु से लेकर किसी बडे से वडे आकार का आलम्बन लिया जा सकता है। वैसे पिण्डस्थ ध्यान भी रूपस्थ ध्यान से भिन्न नही है। शरीर स्वय रूपी है। उस पर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान ही है। शव्द भी रूपी है। उस पर ध्यान करना भी रूपस्थ ध्यान है।

किन्तु शरीर और शब्द की अपनी विशेपता है, इसलिए उन्हे रूपस्थ ध्यान से पृथक् स्थान दिया गया है। शरीर मे चैतन्य की अभिव्यजना होती है, इसलिए वाहरी रूपी ध्येयो की अपेक्षा शरीरगत ध्येय अधिक सफल होता है। शव्द का भी चैतन्य केन्द्र से निकट का सम्वन्ध होता है, इसलिए उसका भी अपना विशेप महत्त्व है। शरीर और शब्द के अतिरिक्त शेप जितने रूपी ध्येय होते है, वे सव रूपस्थ ध्येय की कोटि मे आते है।

रूपातीत ध्यान मे अरूप आत्मा का आलम्बन लिया जाता है। हम उसे साक्षात् देख नही पाते है। शाब्दिक ज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप को निश्चित कर उस पर मन को एकाग्र करते है। रूपातीत ध्यान शाब्दिक भावना के माध्यम से होता है। वह माध्यम निरालम्बन ध्यान की स्थिति मे ही छूट सकता है।

आचार्य रामसेन ने रूपस्थ और रूपातीत दोनो को पिण्डस्थ ध्यान माने जाने के अभिमत का उल्लेख किया है। उसका आशय यह है कि ध्येय-अर्थ ध्याता के पिण्ड (देह) मे स्थित होकर ही ध्यान का विषय बनता है, इसलिए चेतन और अचेतन दोनो का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है :

ध्यातु. पिण्डस्थितश्चैव, ध्येयोऽर्थो ध्यायते यत.।
ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन॥
—तत्त्वानुशासन—१३४

२६. निर्विचारं निरालम्बनम्॥

२६ निर्विचार (विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत) ध्यान को निरालम्बन कहा जाता है।

निरालम्बन ध्यान

सालम्बन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है। एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार-शून्यता है। ध्यान के आरम्भ काल मे किसी एक लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता होती है और अन्त मे वह लक्ष्य छूट जाता है। केवल चित्त की स्थिरता रह जाती है। इसीलिए अनेक साधको का यह अनुभव है कि सालम्बन ध्यान मे योग्यता प्राप्त कर लेने पर निरालम्बन ध्यान की योग्यता स्वय प्राप्त हो जाती है।

कुछ साधक भिन्न प्रकार से सोचते है। उनका चिन्तन है कि सालम्बन ध्यान परावलम्बी ध्यान है। उनकी दृष्टि मे उसकी उपयोगिता नही है। उनका मानना है कि प्रारम्भ से ही विचार-शून्यता का अभ्यास करना चाहिए।

विचार-शून्यता ध्यान की वास्तविक स्थिति है, इसमें कोई सन्देह नही। सालम्बन ध्यान मे ध्याता और ध्येय भिन्न होते है, जबकि निरालम्बन ध्यान मे ध्याता और ध्येय के बीच मे कोई भेद नही होता। सालम्बन ध्यान मे चित्त बाह्य विषयो पर स्थित होता है जबकि निरालम्बन ध्यान मे वह आत्मगत हो जाता है—जिस चैतन्य केन्द्र से वह प्रवाहित होता है, उसी मे जाकर विलीन हो जाता है। निरालम्बन ध्यान से आत्मा की आवृत और सुषुप्त शक्तिया जितनी जागृत होती है, उतनी सालम्बन ध्यान से नहीं होती। सालम्बन ध्यान का प्रभाव मुख्य रूप से नाडी-सस्थान और चित्त पर होता है। निरालम्बन ध्यान का मुख्य प्रभाव चैतन्य केन्द्र पर होता है।

प्रश्न केवल क्षमता का है। यदि किसी साधक मे निरालम्बन ध्यान की क्षमता सहज हो तो उसे सालम्बन ध्यान की अपेक्षा नहीं होगी किन्तु जो साधक प्रारम्भ मे निरालम्बन ध्यान न कर सके, उसके लिए इस अभ्यास का महत्त्व है कि वह सालम्बन ध्यान के द्वारा निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त करे।

निरालम्बन ध्यान की कुछ पद्धतिया है। उन्हे जान लेने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अंग है—प्रयत्न की शिथिलता। सालम्बन ध्यान मे जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल किया जाता है, उसी प्रकार निरालम्बन ध्यान मे मन का प्रयत्न भी शिथिल कर दिया जाता है। निरालम्बन ध्यान वस्तुत अप्रयत्न की स्थिति है।

दूसरा अग—निरभ्र आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाइए। थोडे समय में चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

तीसरा अग—केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिए। मन विचार-शून्य हो जाएगा।

चौथा अग—मानसिक विचारो को समेटकर चित्त को हृदय-चक्र की ओर ले जाइए। फिर गहराई मे उतरने का अनुभव कीजिए। ऐसा करते ही चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

पाचवा अग—आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ कर उसके सान्निध्य का अनुभव कीजिए। वह सहज शान्त और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतिया है, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ वनाया जा सकता है किन्तु उन सव मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है–अप्रयत्न–प्रयत्न का विसर्जन।

२७ शुद्धचेतन्यानुभव· समाधिः॥
२८ विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा॥
२९ संतुलनं वा॥
३० रागद्वेषाभावे चित्तस्य समत्व संतुलनम्॥
३१ समत्व-विनय-श्रुत-तपश्चारित्रभेदात् स पञ्चधा॥
३२. रागद्वेष-विकल्पशून्यत्वात्, मान-विकल्पशून्यत्वात्, चित्तस्थैर्यानुभवात्, भेद-विज्ञानानुभवात्, समत्वादीनिसमाधिपदवाच्यानि॥

२७ शुद्ध चेतन्य के अनुभव को समाधि कहा जाता है।

२८ विकल्पशून्यता होने पर चित्त समाहित हो जाता है, उसे भी समाधि कहा जाता है।

२९ सतुलन को भी समाहित कहा जाता है।

३० रागद्वेष के अनुदय मे चित्त की समता का प्रकट होना सतुलन है।

३१ समाधि के पाच प्रकार है–

१ समत्व　　३ श्रुत
२ विनय　　४ तप
५. चारित्र

३२ समत्व मे रागद्वेपात्मक विकल्प नही होता इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। विनय मे अभिमान का विकल्प नही होता इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। श्रुत मे चित्त की स्थिरता का अनुभव होता है इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। तप और चारित्र मे भेद-विज्ञान का अनुभव होता है इसलिए उन्हे समाधि कहा जाता है।

समाधि

समाधि का अर्थ–चित्त की एकाग्रता और उसका निरोध। महर्षि

पतजलि ने अष्टाग योग मे धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीन अगों का प्रतिपादन किया है।

वौद्ध साधना पद्धति मे समाधि का अर्थ चित्त और चैतसिक का दृढ स्थिरीकरण है। मन ध्यान-वस्तु मे स्थिर हो जाता है, क्योकि मन के साथ रहने वाले मानसिक तथ्य (चैतसिक) पवित्र होते है और वे मन को स्थिर होने मे सहयोग देते है। दृढ़ स्थिरीकरण का अर्थ है —मन का एक वस्तु मे स्थिर होना। इसमे और किन्ही वाधाओ और दोपो का समावेश नही होता।

जैन साधना पद्धति मे समाधि का अर्थ है—शुद्ध चैतन्य का अनुभव या चित्त का समाधान या चित्त का सन्तुलन। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनो एक ही तत्त्व की तीन अवस्थाए है। धारणा का प्रकर्प ध्यान और ध्यान का प्रकर्प समाधि है। धारणा चित्त की एकाग्रता से शुरू होती है, ध्यान मे एकाग्रता परिपुष्ट हो जाती है और समाधि मे वह निरोध की अवस्था मे वदल जाती है।

चित्त की एक वृत्ति के शान्त होने पर दूसरी वृत्ति उसी के अनुरूप उठे और उस प्रकार की अनुरूप वृत्तियो का प्रवाह चलता रहे, उसका नाम चित्त की एकाग्रता है। चित्त की मूढ अवस्था मे राग और द्वेप का उदय प्रवल होता है, इसलिए उसमे सतुलित एकाग्रता नही होती। उस अवस्था मे असतुलित एकाग्रता आर्त्त और रौद्र ध्यान की एकाग्रता हो सकती है किन्तु आत्मिक विकास के लिए उसका कोई उपयोग नही है। वह दोपपूर्ण एकाग्रता है। वह सतुलित चित्त की एकाग्रता मे वाधक वनती है। विक्षिप्त और यातायात चित्त की एकाग्रता सामयिक होती है। जिस समय चित्त मे स्थिरता प्रकट होती है, उस समय अस्थिरता तिरोहित हो जाती है। कुछ समय वाद अस्थिरता आती है और स्थिरता चली जाती है। इन दोनो भूमिकाओ के साधक कभी अपने को समाधि अवस्था मे अनुभव करते है और कभी असमाधि अवस्था मे। उनका आचरण वार-बार बदलता रहता है। श्लिप्ट और सुलीन चित्त की इन दो भूमिकाओ मे एकाग्रता का मूल सुदृढ होता है। श्लिप्ट चित्त की एकाग्रता को धारणा और सुलीन चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जा सकता है। इन दोनो को एक शब्द मे धर्म्यध्यान कहा जा सकता है।

चित्त की छठी भूमिका निरुद्ध है। इसे शुक्लध्यान कहा जा सकता है। शुक्ल ध्यान को उत्तम समाधि, धर्म्यध्यान को मध्यम समाधि और धारणा को प्राथमिक ममाधि कहा जा सकता है। धर्म्यध्यान की एकाग्रता चिरस्थायी होती है इसलिए उससे मन समाहित हो जाता है, वशीभूत हो जाता है। उसे बाधाए परास्त नही कर सकती। शुक्लध्यान मे चित्त का चिरस्थायी निरोध हो जाता हे। उससे वृत्तिया क्षीण होती है। धारणा मे चित्त संतुलित होता है, ध्यान में समाहित ओर समाधि मे केवल चैतन्य का अनुभव शेप रहता हे।

समाधि के पाच प्रकार अभ्यास की दृष्टि से किए गए है। रागात्मक और द्वेपात्मक विकल्प से शून्य चित्त की अवस्था मे समाधि उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से समाधि का कोई भेद नही होता किन्तु वह विकल्प-शून्य अवस्था मे अनेक अभ्यासों और प्रयोगो के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उसे कई भागो मे विभक्त भी किया जा सकता है।

समाधि का एक प्रयोग है समत्व। लाभ-अलाभ, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो मे सम (उदासीन या तटस्थ) रहने का अभ्यास करते-करते राग और द्वेप के विकल्प शान्त हो जाते है—चित्त समाहित हो जाता है।

चित्त की असमाधि का हेतु है—अभिमान। मनुष्य जितना परिग्रही होता है, उतना ही अभिमानी होता है। परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, आसक्ति। जो वैभव, सत्ता आदि पदार्थो मे मूर्च्छित होता है और यह मानता है—मेरे पास वैभव है, अधिकार है, मेरे पास यह है, वह है। ऐसा मानने वाला अभिमान के विकल्प से भरा रहता है। समाधि चाहने वाला परिग्रह को छोडता है—मूर्च्छा और आसक्ति का परित्याग करता है। फिर वह इस भावना का अभ्यास करता है कि मेरा कुछ भी नही है। इस अभ्यास से उसके अभिमान विकल्प का विलय हो जाता है। उसे चित्त-समाधि प्राप्त हो जाती है।

जिससे चित्त चचल होता है, वह ज्ञान समाधि का हेतु नही होता। समाधि चित्त की स्थिरता में ही निष्पन्न होती है। विकल्प और अशान्ति दोनो साथ-साथ जन्म लेते है। जैसे-जैसे विकल्प वढते जाते है, वैसे-वैसे अशाति वढ़ती जाती है। विकल्प को क्षीण करने का पहला उपाय है—चित्त की एकाग्रता। जैसे-जैसे अन्तरात्मा का वोध जागृत होता है, वैसे-वैसे

हमारी चेतना बाह्य वस्तुओं से विरत हो जाती है और चित्त एकाग्र हो जाता है। हम सूचनात्मक ज्ञान का सकलन करे या न करें, यह यहा प्रासगिक नही है। हम अपने अन्तश्चैतन्य को जागृत करें और उससे जो श्रुत (ज्ञान) की धारा प्रवाहित हो, उसका उपयोग करे। चित्त अपने आप समाहित होगा।

चेतना और शरीर —ये दोनो परस्पर मिले हुए है। स्थूल शरीर वदलता रहता है किन्तु सूक्ष्म शरीर और चेतना—ये दोनो धाराप्रवाह रूप मे जुडे रहते है। चेतना के द्वारा शरीर को ज्ञान का आलोक और शक्ति प्राप्त होती है। शरीर के द्वारा चेतना को अभिव्यक्ति मिलती है और शक्ति के प्रयोग का क्षेत्र मिलता है। दोनो पारस्परिक सहयोग के कारण अभिन्न जैसे प्रतीत होते है। यह अभेद वोध की चेतना के शरीर निरपेक्ष विकास मे अवरोध पैदा करता है। इस अभेद बोध की परिस्थिति मे राग और द्वेप पनपते है। उनके सस्कार चित्त को चचल वनाए रहते हैं। उस चंचलता को मिटाने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—भेद-विज्ञान—चेतना और शरीर मे भिन्नता का वोध।

शरीर और चेतना भिन्न है—यह हमने सुना या पढा। हमे वोध हो गया कि शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है इसलिए वे दोनो भिन्न है। यह वोध केवल श्रुति-वोध है। इस वोध को हम साधना का आदि विन्दु वना सकते है किन्तु इसे निष्पत्ति नही मान सकते। इस श्रुति-वोध को स्वयं का बोध वनाने के लिए दो प्रयोग किए जाते है—एक तप का और दूसरा चरित्र का। हम कम खाते है या कुछ दिनो तक नही खाते। शरीर के लिए खाना जरूरी है और हम नहीं खाकर उसके नियम का अतिक्रमण करते है। उस अतिक्रमण का शरीर विरोध करता है। उस विरोध के काल मे यदि हम भेद-ज्ञान का अनुभव कर चेतना को मुख्यता देते हैं तो भेद-विज्ञान अभ्यास के स्तर पर आ जाता है। हम आसन साधते है। शरीर की माग नहीं है कि हम दो या तीन घटे एक आसन मे वैठे रहे। हम ध्यान करते है। वाह्य वातावरण से हट जाते है और ज्ञात विपयो की विस्मृति हो जाती है। हम आने वाली हर कठिनाई को हसते-हसते झेल लेते है। ये सव तप और चारित्र के प्रयोग भेद-विज्ञान के प्रयोग है। इनके द्वारा हमारा भेद-विज्ञान पुष्ट होता है। हम इस बिन्दु

पर पहुंच जाते है कि जो अप्रिय लग रहा है, कष्ट हो रहा है, वह सव दैहिक संस्कार के कारण हो रहा है। चेतना के धरातल पर कोई अप्रिय नही है, कोई कष्ट नही है। यह अनुभूति पुष्ट होकर चित्त की चचलता पैदा करने वाली सभी बाधाओ को विलीन कर देती है और चित्त समाहित हो जाता है।

३३. **कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या॥**

३४ **कृष्ण-नील-कापोत-तेजः पद्म-शुक्लाः॥**

३३ कृष्ण, नील आदि पुद्गल द्रव्यो के निमित्त से जो आत्म-परिणाम होता है, उसे लेश्या कहा जाता है।

३४ लेश्या के छह प्रकार है ·

१ कृष्ण	४. तेजस्
२ नील	५. पद्म
३. कापोत	६. शुक्ल

लेश्या

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। उसके इन्द्रिय और सहायक मन भी पौद्गलिक है। उसकी सारी प्रवृत्तियो में पुद्गल का वहुत वडा योग रहता है। पुद्गल के चार लक्षण है—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। इन चारो मे पहला वर्ण—रग है। वर्ण के पांच प्रकार है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनके मिश्रण से अनेक रग उत्पन्न होते है।

आधुनिक वैज्ञानिक रंग के सात प्रकार मानते है—लाल, हरा, पीला, आसमानी, गहरा नीला, काला और हल्का नीला।

उनके अनुसार सफेद रग मौलिक नही है। वह सात रगो के एकीकरण से वनता है।

रगों का प्राणी-जीवन के साथ वहुत गहरा सम्वन्ध है। ये हमारे शरीर तथा मानसिक विचारो को भी प्रभावित करते है। लेश्या के सिद्धात द्वारा इसी प्रभाव की व्याख्या की गई है।

वैज्ञानिक परीक्षणो के द्वारा रगो की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। देखिए यंत्र—

नाम	प्रकृति
लाल	गर्म
नारगी	गर्म
लाल-नारगी	वहुत गर्म
पीला	गर्म किन्तु लाल-नारगी से कम
हल्का गुलावी	गर्म
गाढा गुलावी	गर्म
बादामी	गर्म
हरा	न अधिक गर्म, न अधिक ठडा
नीला	ठंडा
गहरा नीला या आसमानी	ठडा
शुभ्र (वनफशी)	न गर्म, न ठडा

इनमे नारगी लाल रग के परिवार का रग है। वैगनी और जामुनी रग नीले रग के परिवार के अग है।

रंगों का शरीर पर प्रभाव

लाल	स्नायुमण्डल को स्फूर्ति देना।
नीला	स्नायविक दुर्वलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष मे लाभ पहुचाना और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।
पीला	मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगो को शान्त करने मे उपयोगी।
हरा	ज्ञान-तन्तुओ और स्नायुमण्डल को बल देना, वीर्य रोग के उपशमन मे उपयोगी।
गहरा नीला	गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय सम्बन्धी रोगो के उपशमन मे उपयोगी।
शुभ्र	नीद के लिए उपयोगी।
नारगी	दमा तथा वात-व्याधियो के रोगो को मिटाने मे उपयोगी।
वैगनी	शरीर के तापमान को कम करनें मे उपयोगी।

रंगों का मन पर प्रभाव

काला रग मनुष्य मे असयम, हिसा और क्रूरता का विचार उत्पन्न करता है।

नीला रग मनुष्य मे ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रग मनुष्य मे वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।

अरुण रग मनुष्य मे ऋजुता, विनम्रता और धर्म-प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रग मनुष्य मे शान्ति, क्रोध-मान-माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है।

सफेद रग मनुष्य मे गहरी शान्ति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारो के रगो के विषय मे एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है, जिसका प्रथम वर्गीकरण के साथ पूर्ण सामजस्य नही है। यह इस प्रकार है :

विचार	रंग
भक्ति विषयक	आसमानी
कामोद्वेग विपयक	लाल
तर्क-वितर्क विषयक	पीला
प्रेम विषयक	गुलाबी
स्वार्थ विपयक	हरा
क्रोध विषयक	लाल-काले रग का मिश्रण

इन दोनो वर्गीकरणो के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रग दो प्रकार का होता है

१. प्रशस्त

२. अप्रशस्त

कृष्ण, नील और कापोत—अप्रशस्त कोटि के ये तीनो रग मनुष्य के विचारो पर बुरा प्रभाव डालते है तथा अरुण, पीला और सफेद—प्रशस्त कोटि के ये तीनो रग मनुष्य के विचारो पर अच्छा प्रभाव

डालते है।

क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण लाल है। मोह से जल तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण सफेद या बेंगनी है। भय से पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण पीला है। प्रशस्त लेश्याओ के जो वर्ण है, उनकी प्रधानता क्रोध आदि से होती है। इन दोनो निरूपणो मे विरोधाभास है। इससे यह जानने के लिए अवकाश मिलता है कि लाल, पीला और सफेद वर्ण अच्छे विचारो को उत्पन्न नही करते, किन्तु प्रशस्त कोटि के लाल, पीला और सफेद वर्ण ही अच्छे विचारो को उत्पन्न करते है। नमस्कार मत्र के जप के साथ जिन रगो की कल्पना की जाती है, उनसे भी यही तथ्य प्रमाणित होता है। जैसे—

णमो अरहताण	श्वेत वर्ण
णमो सिद्धाण	रक्त वर्ण
णमो आयरियाण	पीत वर्ण
णमो उवज्झायाण	हरित वर्ण
णमो लोए सव्वसाहूण	नील वर्ण

लेश्या के प्रसग मे कृष्ण वर्ण को सर्वाधिक निकृष्ट माना गया है किन्तु मुनि के साथ कृष्ण वर्ण की योजना की गई है। इससे यही निष्कर्प निकलता है कि कृष्ण लेश्या (निकृष्टतम चित्त वृत्ति) को उत्पन्न करने का हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण वनता है। मुनि के साथ जिस कृष्ण वर्ण की योजना की गई है, वह प्रशस्त है।

साधक को वैचारिक पवित्रता, भावना-शुद्धि तथा वौद्धिक व आध्यात्मिक विकास के लिए रगो का मानसिक अनुचितन करना चाहिए। मुख्यतया अनुचितनीय वर्ण ये है—अरुण, पीत और श्वेत।

मन की एकाग्रता के लिए आकाश मे दृष्टि टिकाना बहुत उपयोगी है। मुनि का ध्यान करते समय कृष्ण वर्ण का अनुचितन करना बहुत उपयोगी है। सामान्यतया कृष्ण दीनता का सूचक है। किन्तु उसकी एक विशेषता यह है कि वह बाहर से आने वाली रश्मियो को अपने मे केन्द्रित कर लेता है, इसलिए उसका अनुचितन करने वाला बाहरी प्रभावो से अपने आप को बचा लेता है।

मानसिक विकास और रंग

एकान्त मे वैठकर आखे मूंदकर दस मिनट तक मस्तिष्क मे पीत वर्ण का ध्यान करने से ओज बढता है और मस्तिष्क बलवान होता है। आंखे मूदकर पीले रग की ज्योति का ध्यान करने से आलस्य दूर होता है और बुद्धि तीव्र होती है।

पांचवां प्रकरण

१ प्राणापान-समानोदान-व्यानाः पंच वायवः॥

२ नासाग्र-हृदय-नाभि-पादांगुष्ठान्तगोचरो नीलवर्णः प्राणः॥

३ पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिगः श्यामवर्णः अपानः॥

४ सर्वसन्धि-हृदय-नाभिगः श्वेतवर्णः समानः॥

५ हृदय-कण्ठ-तालु-शिरोन्तरगो रक्तवर्णः उदानः॥

६ सर्वत्वग्वृत्तिको मेघधनुस्तुल्यवर्णो व्यानः॥

१ प्रधानत वायु के पाच प्रकार है

   १ प्राण
   २ अपान
   ३ समान
   ४ उदान
   ५ व्यान

२ नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैरो के अगूठे तक व्याप्त रहने वाला वायु प्राण कहलाता है। इसका वर्ण नील होता है।

३ पीठ, पीठ के अन्त्य भाग और पार्ष्णियो (एडियो) मे परिव्याप्त वायु अपान कहलाता है। इसका वर्ण श्याम होता है।

४ सारे सन्धि-भागो, हृदय तथा नाभि मे विचरने वाला वायु समान कहलाता है। इसका वर्ण श्वेत होता है।

५ हृदय, कण्ठ, तालु और सिर मे विचरने वाला वायु उदान कहलाता है। इसका वर्ण रक्त होता है।

६ त्वग्मात्र मे विचरने वाला वायु व्यान कहलाता है। इसका वर्ण इन्द्रधनुपी होता है।

वायु

प्राण का अर्थ है—जीवनी-शक्ति। उसके दस प्रकार है .

१. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	६. मनोवल प्राण
२. रसनेन्द्रिय प्राण	७. वचनवल प्राण
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८. कायबल प्राण
४. चक्षुरिन्द्रिय प्राण	९. श्वासोच्छ्वास प्राण
५ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	१० आयुष्य प्राण

इस शक्ति के द्वारा ही प्राणी जीवन को धारण करता है। इसके मूल मे चैतन्य और पुद्‌गल दोनो क्रियाशील रहते है। इस प्राणशक्ति को वायु के द्वारा गति मिलती है। इसलिए उसे (वायु को) स्थूल प्राण कहा जाता है।

शरीरगत वायु के मुख्य पाच प्रकार है :

१ प्राण
२. अपान
३. समान
४. उदान
५. व्यान

इनके स्थान, गति, कार्य, परिणाम व वर्ण इस प्रकार है—

प्राण—इसका स्थान मस्तक है, गतिस्थल छाती व कण्ठ है। इसके कार्य वुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन को धारण करना तथा थूकना, छीक, डकार, नि·श्वास और अन्नप्रवेश है। यह रुक्षता, व्यायाम, लघन, चोट, यात्रा तथा वेगनिरोध से विकृत होती है, जिसके परिणाम चक्षु आदि इन्द्रियो का विनाश, अर्दित, प्यास, कास, श्वास आदि रोगो की उत्पत्ति है। इसमे वायु तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण नील होता है।

अपान—इसका स्थान गुदास्थल है तथा कार्यक्षेत्र श्रोणि, वस्ति है। इसका कार्य वीर्य, रज, मल-मूत्र को बाहर निकालना है। विकृति, रुक्ष तथा भारी अन्न सेवन से, वेगो को रोकने या अति प्रवृत्ति करने से, अति वैठने, खडे होने या चलने से होती है। इसके परिणाम है—पक्वाशयगत कष्ट-साध्य रोगो, मूत्र एव वीर्य के रोगो, अर्श, गुद-भ्रश आदि रोगो की उत्पत्ति। इसमे पार्थिव तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण श्याम

होता है। यहा श्याम का अर्थ काला नही किन्तु धूमिल या पीत-बहुल धूसर है।

समान—इसका स्थान पाचनाग्नि के पास है तथा गति क्रोध मे है। कार्य अन्न को ग्रहण कर पचाना, विरेचन करना, सार और किट्ट मे भेद कर किट्टभाग (मल-मूत्र) को नीचे सरकाना है। यह विपम भोजन, अजीर्ण भोजन, शीत भोजन व संकीर्ण भोजन तथा असमय मे सोने या जागने से विकृत होती है। इसके परिणाम शूल, गुल्म, सग्रहणी आदि पक्वाशय के रोगो की उत्पत्ति है। इससे जल तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण श्वेत होता है।

उदान—इसका स्थान छाती है तथा गति नासिका नाभि व गले मे है। इसके कार्य वाणी की प्रवृत्ति, उत्साह, वल, वर्ण और स्मृति है। छीक, डकार, वमन व निद्रावेग रोकने व अति रुदन-हास्य, भारी वोझ उठाने आदि से यह विकृत होती है। इसके परिणाम है—कण्ठरोध, मनोभ्रश, वमन, रुचि का नाश, पीनस, गलगण्ड आदि रोगो की उत्पत्ति। इसमे अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण लाल है।

व्यान—इसका स्थान हृदय है तथा गति सर्वत्वचा मे है। गति, अग को ऊपर-नीचे लाना, नेत्रादि को मूदना-खोलना आदि इसके कार्य है। यह अति भ्रमण, चिता, खेल, विषम चेष्टा, रुक्ष भोजन, भय, हर्प एव शोक से विकृत होती है। इसके परिणामस्वरूप पुरुपत्व की हानि, उत्साह-हानि, वल-हानि, चित्त की बेचैनी, अगो मे जडता आदि रोग उत्पन्न होते है। इसमे आकाश तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण सतरगी इन्द्रधनुष जैसा होता है।

वहुत दिनो से बन्द मकान को खोलते ही दूषित वायु निकलती है। उससे कभी-कभी प्राणान्त तक हो जाता है। लोग भूत की कल्पना करते है पर वहा भूत का काम दूषित वायु ही करती है। सूर्यास्त के वाद वरगद आदि बडे वृक्ष दूपित प्राणवायु छोडते है। उनके नीचे सोने वाले कभी-कभी मर जाते है। लोग वहा भी भूत की कल्पना करते हैं पर वहा भी भूत वही दूपित वायु होती है। प्राणवायु की शुद्धि-अशुद्धि को जानने वाला वहुत सारी कठिनाइयो से वच जाता है। अपान वायु दूषित न हो, इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। अधिक खाने, मलशुद्धि न होने तथा

वेगो को रोकने से अपानवायु दूपित हो जाती है। मस्सा, नासूर आदि बीमारिया अपानवायु के दूपित होने से होती है। स्वभाव का चिडचिडापन और मानसिक अप्रसन्नता भी दूपित अपानवायु के कारण होती है। आहार-शुद्धि, मलशुद्धि, अश्विनी मुद्रा और मूलवन्ध करने से अपानवायु की शुद्धि होती है।

शरीर की अपानवायु को शुद्ध करने की क्रिया का नाम अपानायाम है।[1] ऐसी कुछ क्रियाए नीचे दी जाती है, जिन्हे विधिपूर्वक करके लाभ उठाया जा सकता है।

१. प्रथम, पेट को सामने की ओर जितना फुला सके, फुलाए, फिर सिकोडे। नाभि को रीढ़ की हड्डी के साथ लगाने का प्रयत्न करे। इससे जहा अपान का अनुलोमन होता है, उसके साथ वीर्य-रक्षा भी होती है। अव दोनो हाथो को पेट पर रखे। अगूठा पीछे रहे और अगुलिया सामने की ओर हो। अब पेट को पूर्ववत् फुलाए और वाये हाथ से दायी ओर दवाव डाले। दाये हाथ से पीछे की ओर दवाव डाले। अब पेट को पीछे से वाये-दाए फुलाए। इसी प्रकार कई दिनो तक अभ्यास करने से पेट स्वय वायी से दायी ओर होकर, फिर पीछे होकर वायी ओर आ जाएगा। इसी प्रकार दायी ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करे। तत्पश्चात् पेट को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर गतिया देनी चाहिए। इससे पेट की सफाई हो जाती है और अपानवायु वश मे हो जाता है।

२. खडे होकर श्वास को विलकुल बाहर फेककर काख के दोनो पार्श्वो को भीतर खीचने का खूव यत्न करे। मध्यप्रदेश नाभिस्थल ऊपर रहे। इसका अभ्यास करने के लिए सामने कोई मेज हो या अन्य वस्तु जिसे खूव अच्छी तरह पकड़ा और उठाया जा सके। अव हाथो के वल सीधा ऊपर उठा जाए और वही क्रिया की जाए। नल स्वय वाहर निकलेगा। अव विना मेज के दोनो हाथो को घुटनो पर रखकर श्वास वाहर फेंककर कुक्षि-प्रदेश अन्दर खीचे। जव नल निकलने लग जाए तव श्वास चाहे अन्दर हो या वाहर, श्वास को वाहर रोककर नल निकाला जा सकता है और उसे आगे-पीछे खूब अच्छी तरह हिलाया जा सकता

१. धन्वन्तरि—प्राकृतिक चिकित्सा विशेपाक, वर्प-४०, अक-२, पृ. १३७

है। इस क्रिया से अपानवायु वश मे होती है व पेट की वहुत-सी वीमारिया दूर हो जाती है।

३. आपने बहुत वार कुत्ते या विल्ली को अंगडाई लेते देखा होगा। ठीक इसी प्रकार की स्थिति मे हो जाइए। हाथों को सीधा आगे पसारिए। जमीन पर ठोडी या गाल लगे और घुटने अलग करके रखें। कमर को जितना हो सके झुकाए। अव अपान को वाहर करने का प्रयत्न करे। उसके बाद स्वय ही अपान अन्दर आने की कोशिश करेगा। इससे अफारा, सिरदर्द दूर होते है। अपानायाम मे सिर्फ पूरक व रेचक ही करना चाहिए, कुम्भक नहीं। पेट को विल्कुल ढीला छोड देने से वायु वाहर हो जाता है।

प्राण, अपान आदि की विधिवत् साधना करने वाला वाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की उपलब्धियो से सम्पन्न होता है। सोमदेव सूरि के अनुसार जो व्यक्ति पवन के प्रयोग मे निपुण होता है, वह सिद्ध और सर्वज्ञ जैसा हो जाता है—

पवनप्रयोगनिपुण· सम्यक् सिद्धो भवेदशेपज्ञ ।

७ **नासादिषु स्वस्वस्थानेषु रेचक-पूरक-कुम्भकैस्तज्जय.॥**

८. **यैं पैं वैं रैं लौं तद्ध्यानवीजानि॥**

७ पाचो वायुओ के जो अपने-अपने विचरण-स्थान है, वहा सकल्पपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक करने से इन पर विजय प्राप्त होती है।

८ पाचो वायुओ के ध्यान-वीज इस प्रकार है

१. प्राण—यै
२ अपान—पै
३ समान—वै
४. उदान—रै
५ व्यान—लौ

वायु-जय की प्रक्रिया

पूर्ववर्ती सूत्रो मे वायु के स्थानो का निर्देश किया गया है। जिस वायु को अपने वश मे करने की अपेक्षा होती है, उस पर मन को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। प्राणवायु का मुख्य स्थान नासाग्र है। उसे

अपने वश मे करने के लिए नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। नासाग्र के द्वारा प्राण का आगम और निर्गम होता है। वहा मन को उसी प्रकार नियोजित करना चाहिए जिस प्रकार एक प्रहरी द्वार से जाने-आने वाले लोगो पर ध्यान केन्द्रित किये खडा रहता है। लम्बे समय तक प्राणवायु के आगम और निर्गम पर ध्यान केन्द्रित करने से वह साधक के अधीन हो जाती है। फिर साधक उसे शरीर के जिस भाग में ले जाना चाहता है, या स्थापित करना चाहता है, मन की गति के साथ वह वही चली जाती है या स्थापित होती है। इस प्रकार अन्य वायुओ पर भी ध्यान को केन्द्रित कर उन्हे अपने अधीन किया जा सकता है। प्रत्येक वायु स्वाभाविक ढग से अपना-अपना काम करती है किन्तु ध्यान के द्वारा उनमे विशेषता लायी जा सकती है और उनकी शक्ति का सवर्धन किया जा सकता है। इस कार्य के सम्पादन मे प्राणायाम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेचक के द्वारा उनके दूषित तत्त्वो को बाहर फेक दिया जाता है। पूरक के द्वारा उनकी शक्ति को पुष्ट किया जाता है और कुम्भक के द्वारा उनकी कार्य-क्षमता को जागृत किया जाता है। साधक सकल्पपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक कर वायु को अपने अधीन वना लेता है और फिर वह उनके द्वारा इष्ट कार्य का सम्पादन करता है। वायु पर ध्यान केन्द्रित करते समय उसके ध्यान-बीजो का भी आलम्वन लेना चाहिए।

९. जठराग्निप्रावल्यं वायुजयः शरीरलाघवञ्च प्राणस्य लव्धयः॥

१०. व्रणसंरोहण-अस्थिसन्धान-अग्निप्रावल्य-मलमूत्राल्पता व्याधिजयः अपान-समानयोः॥

११. पंक-कण्टकवाधाऽभाव उदानस्य॥

१२ ताप पीड़ाऽभावः आरोगित्वञ्च व्यानस्य॥

१३ चन्द्रनाड्या वायुमाकृष्य पादाङ्गुष्ठान्तं तन्नयनं क्रमशः पुनरुन्नयनं पुनर्नयनञ्च मनःस्थैर्याय।

१४. पादाङ्गुष्ठतो लिङ्गपर्यन्तं वायुधारणेन शीघ्रगतिर्वलप्राप्तिश्च॥

१५. नाभौ तद्धारणेन ज्वरादिनाशः॥

१६ जठरे तद्धारणेन कायशुद्धिः॥

१७. हृदये तद्धारणेन ज्ञानोपलब्धिः॥

१८ कूर्मनाड्यां तद्धारणेन रोगजराविनाशः॥

१९ कण्ठकूपस्य निम्नभागे स्थिता कुण्डलिसर्पाकारा नाडी कूर्मनाडी॥

२० कण्ठकूपे तद्धारणेन क्षुत्तृषाजयः॥

२१ जिह्वाग्रे तद्धारणेन रसज्ञानम्॥

२२ नासाग्रे तद्धारणेन गन्धज्ञानम् ॥

२३ चक्षुषोस्तद्धारणेन रूपज्ञानम्॥

२४ कपाले तद्धारणेन क्रोधोपशमः॥

२५ ब्रह्मरन्ध्रे तद्धारणेन अदृश्यदर्शनम्॥

९ प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रवल होती है। वायु जीत लिया जाता है और शरीर मे हल्कापन आ जाता है।

१०. अपान और समान वायु को जीतने से ये फल प्राप्त होते है—

१. व्रणसंरोहण—घाव मिटाना।
२. अस्थि-सधान—हड्डी जुड़ जाना।
३ जठराग्नि की प्रवलता।
४ मल और मूत्र की अल्पता।
५. व्याधि पर विजय।

११ उदान वायु पर विजय प्राप्त करने पर कीचड़, काटे आदि वाधक नही बनते। लघुता प्राप्त होने से फसना, चुभना आदि नही होते।

१२ ताप और पीडा का अभाव तथा नीरोगता—ये व्यान वायु की विजय के कार्य या फल है।

१३ बाये स्वर को चन्द्रनाडी तथा दाये स्वर को सूर्यनाडी कहा जाता है। चन्द्रनाडी के पवन का आकर्षण कर उसे पैरो के अगूठे तक ले जाना, क्रमश· उसे फिर ऊपर लाना, फिर नीचे ले जाना—इस प्रकार ऊपर-नीचे लाने ले जाने से मन की स्थिरता प्राप्त होती है।

१४ पादागुष्ठ से लिग पर्यन्त वायु को धारण करने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

१५ नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर आदि रोग नष्ट होते है।

१६ जठर मे वायु को धारण करने से शरीर की शुद्धि होती है, मल

क्षीण हो जाते है।

१७ हृदय मे वायु को धारण करने से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

१८ कूर्मनाडी मे वायु को धारण करने से रोग और वुढापा नष्ट होता है।

१६. कण्ठकूप के निचले भाग मे कुण्डली-मुद्रा मे बैठे हुए सर्प के आकार की जो नाडी है, उसे कूर्मनाडी कहा जाता है।

२० कण्ठकूप मे वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है।

२१. जिह्वाग्र मे वायु को धारण करने से रस का ज्ञान प्राप्त होता है।

२२. नासाग्र मे वायु को धारण करने से गध का ज्ञान प्राप्त होता है।

२३. चक्षुओ में वायु को धारण करने से रूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

२४. कपाल मे वायु को धारण करने से क्रोध उपशान्त होता है।

२५. ब्रह्मरन्ध्र मे वायु को धारण करने से चर्म चक्षुओ द्वारा अदृश्य वस्तुए दीखने लग जाती है।

वायु-विजय के लाभ

महर्षि पतजलि ने उदान और समान दोनो के विजय के लाभ बतलाए है। उनके योगदर्शन मे शेष वायुओ के विजय के लाभ की कोई चर्चा नही है। उनके अनुसार संयम के द्वारा उदान वायु के जय से शरीर हल्का हो जाता है। फिर वह पानी में नही डूबता। उसके पैर कीचड मे नही फसते। कांटो मे भी नही उलझते। मरण के समय उसकी ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राणो के निकलने से ऊर्ध्वगति होती है—

उदानजयाज्जलपककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च॥

(पातजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ३६)

सयम के द्वारा समान वायु का विजय कर लेनें पर साधक का शरीर दीप्तिमान हो जाता है—

समानजयाज्ज्वलनम्॥

(पातंजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ४०)

उत्तरवर्ती योगग्रथो मे अन्य वायुओ के जय से होने वाले लाभो का वर्णन मिलता है। नौवे से बारहवे सूत्र तक उनका निरूपण किया गया है। तेरहवे सूत्र मे प्राणायाम की एक विशेष प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा याज्ञवल्क्य गीता मे इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

उक्त प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—साधक पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठे। फिर वह रेचक प्राणायाम करे। उसके बाद बाये नथुने से पूरक प्राणायाम करे और प्राण को पैरो के अगूठे तक ले जाए। वहा सकल्पपूर्वक कुम्भक करे। फिर प्राणवायु को क्रमशः पैरो के तलुवे, एडी, टखने, जघा, घुटने, ऊरु, गुदा, लिग, नाभि, उदर, हृदय, कण्ठ, जीभ, तालु, नासाग्र, नेत्र, भौह, ललाट और सिर तक ले जाए। वहा से उसे ब्रह्मरन्ध्र मे ले जाए। फिर उल्टे क्रम से प्राणवायु को पैरो के अगूठे तक ले जाए। फिर पैरो के अगूठे से उसे नाभि तक लाकर उसका विरेचन कर दे। इस प्रक्रिया के मध्य वायु को धारण करने से होने वाले लाभ चौदहवे से पचीसवे सूत्र तक बतलाए गए है।

२६. आस्थाबन्धो दीर्घकालासेवनं नैरन्तर्यं कर्मविलयश्चात्र हेतुः॥
२७. मनोनुशासनाद् अतीन्द्रियोपलब्धिः॥

२६ दृढ आस्थायुक्त, प्रतिदिन, लम्बे समय तक उक्त स्थानो मे सकल्पपूर्वक कुम्भक करने तथा कर्म-पुद्गलो का विलय होने से ही ये शक्तिया प्राप्त होती है।

२७ मन के अनुशासित होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनोनुशासन का अन्तिम फल अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि या स्वभाव की उपलब्धि है।

सिद्धि की प्रक्रिया

योग-साधना से होने वाली उपलब्धियो का वर्णन मनुष्य के सामान्य ज्ञान से परे की वस्तु है। साधारणतया जीवन मे ऐसा घटित नहीं होता किन्तु मन की एकाग्रता के द्वारा कुछ ऐसा घटित होता है, जिसकी मानसिक चंचलता की स्थिति मे कल्पना भी नही की जा सकती। हमारे शरीर के भीतर कुछ ऐसे शक्ति-स्रोत विद्यमान है जिनका चैतसिक चचलता की

स्थिति मे कोई उपयोग नही होता। एकाग्रता की स्थिति मे वे स्रोत उद्घाटित हो जाते हैं और वे शरीर मे विशेप प्रकार की रासायनिक क्रिया उत्पन्न करते है। उनके द्वारा असभव प्रतीत होने वाले परिवर्तन सहज ही घटित हो जाते है, किन्तु यह कुछ ही दिनो मे घटित नही होता। इसकी सिद्धि के चार उपाय है—

१. आस्था बन्ध

२ दीर्घकालिक अभ्यास

३. निरन्तर अभ्यास

४. कर्मविलय

साधना मे दृढ आस्था हुए विना सफलता सभव नही होती। उसके होने पर भी यदि अभ्यास दीर्घकाल तक न चले तो सफलता सभव नही है। दीर्घकालिक अभ्यास होने पर भी यदि वह निरन्तर न चले, उस स्थिति मे साधक सफल नही हो सकता। इन सबके होने पर भी वन्धन-विलय से प्राप्त योग्यता अपेक्षित रहती है। इन सबका समुचित योग होने पर जो असभव प्रतीत होता है, वह सभव वन जाता है।

उक्त उपलब्धियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि। स्थूल मन की एकाग्रता होने पर वह भी घटित हो जाती है।

छटा प्रकरण

१ सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम्॥
२ सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा॥
३ कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादित्वञ्च सत्यम्॥
४ परोपरोधाकरणमस्तेयम्॥
५ वस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम् ॥
६ वाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रहः॥
७ आलोके भोजनं पानञ्च॥
८ भूमिं प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत्॥
६ प्रतिलेखनप्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात्॥
१० क्रोध-लोभ-भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य आचक्षीत॥
११. अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत्॥
१२ ब्रह्मचर्यघातिसंसर्गेन्द्रियप्रयोगं विवर्जयेत्॥
१३ प्रियाप्रिययोर्न रज्येद् न द्विष्याद् न च देहमध्यासीत्॥
१४ स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम्॥
१५ क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिंचन्य- ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्मः॥
१६ क्रोधनिग्रहः क्षमा॥
१७ हीनानामपरिभवनं मार्दवम्॥
१८ माया-निरोध आर्जवम्॥
१६ शौचमलुब्धता॥
२० सत्यम्[१]॥
२१ हिंसादिप्रवृत्तेरुपरमणं सयमः॥

---

१ देखे ६/३

२२. कर्म-निर्जरणहेतु पौरुषं तपः॥

२३ संविभागकरणं त्यागः॥

२४. स्वदेहे निःसंगता आकिंचन्यम्॥

२५. ब्रह्मचर्यम्[1]॥

१. हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनका सर्वथा त्यागने का नाम महाव्रत है। सर्वथा त्यागने का अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा आदि स्वय न करना, दूसरो से न कराना और करते हुए का अनुमोदन न करना।

२. प्राणी मात्र के प्रति सयम—अपनी असत्-प्रवृत्तियो की रुकावट रखना, उन्हे कष्ट न पहुचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना अहिसा है।

३. शरीर, वाणी और मन की ऋजुता तथा अविसवादित्व (कथनी और करनी की एकरूपता) को सत्य कहा जाता है।

४. दूसरों के स्व का हरण न करने को अस्तेय कहा जाता है।

५. जननेन्द्रिय, इन्द्रिय-समूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

६. वाह्य (आत्मा से अतिरिक्त वस्तुओ) मे मन का सम्बन्ध न करने को अपरिग्रह कहा जाता है।

७. योग-अभ्यासी को भोजन-पान आलोक मे (सूर्य के रहते हुए ही) करना चाहिए।

८. उसे भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

९. स्थान को देख, उसे साफ कर उपकरणो को उठाना और रखना चाहिए।

१०. उसे क्रोध, लोभ, भय और हास्य-कुतूहल का वर्जन करना चाहिए और सोच-समझकर बोलना चाहिए।

११. रहने के स्थान की उसके स्वामी की अनुज्ञा ले, उसका सम्यक् पालन करना चाहिए।

१२. ब्रह्मचर्य का घात करने वाले संसर्ग का वर्जन करना चाहिए। वासना को उभारने वाले व्यक्तियो के साथ नही रहना

---

१. देखे . ६/५

चाहिए। वैसे स्थान और आसन का भी वर्जन करना चाहिए। चक्षु, स्पर्शन, जीभ और श्रोत्र का उच्छृखल प्रयोग नही करना चाहिए।

१३ इन्द्रियो के प्रिय विषयो मे आसक्ति और अप्रिय विषयो मे द्वेष नही करना चाहिए। उसे देहाध्यास का त्याग करना चाहिए।

१४ स्थूल हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनकी विरति को अणुव्रत कहा जाता है।

१५ श्रमण-धर्म दस प्रकार का है

१. क्षमा	६ सयम
२. मार्दव	७. तप
३. आर्जव	८ त्याग
४ शौच	६. आकिचन्य
५ सत्य	१० ब्रह्मचर्य

१६. क्रोध के निग्रह को क्षमा कहा जाता है। जो आक्रोश और ताडना को सहन करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो सहन नही करता, उसके कर्म-सस्कार संचित होते है, इसलिए आने वाले क्रोध का निग्रह करो और जो क्रोध आ गया, उसे विफल करो।

१७ जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदि मे जो हीन हो, उनका तिरस्कार न करना मार्दव है। मै उत्तम जातीय हू और यह नीच जातीय है—इस प्रकार मद नही करना चाहिए। जो मद नही करता, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो मद करता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए आने वाले मान का निग्रह करो और जो मान आ गया, उसे विफल करो।

१८ माया के निरोध को आर्जव कहा जाता है। जो ऋजु होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो कुटिल होता है, उसके कर्म-सस्कार संचित होते है, इसलिए होने वाली माया का निग्रह करो और जो माया हो गई, उसे विफल करो।

१६. अलुब्धता को शौच कहा जाता है। जो लुब्धभाव नहीं

रखता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो लुब्धभाव रखता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है। इसलिए आने वाले लोभ का निरोध करो और जो लोभ आ गया, उसे विफल करो।

२०. जो सत्य बोलता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो असत्य बोलता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है।

२१. हिंसा आदि अकरणीय कार्य से विरत होना सयम है। जो सयम करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो असयम करता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है।

२२. सचित कर्मो का शोधन करने वाले पराक्रम को तप कहा जाता है। जो तप करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है, इसलिए तप का अभ्यास करो।

२३. सयमी को वस्त्र, पात्र, औषध आदि का सविभाग देने को त्याग कहा जाता है। जो सविभाग करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है, इसलिए सविभाग करो।

२४. अपने शरीर के प्रति जो नि सगता होती है, निर्ममत्व होता है, उसे आकिचन्य कहा जाता है। जो नि.सग होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो आसक्त होता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए आकिचन्य का अभ्यास करो।

२५. जो ब्रह्मचर्य का भली-भाति आचरण करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो उसका सम्यग् आचरण नही करता, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

महाव्रत

महर्षि पतजलि ने अष्टाग योग का प्रतिपादन किया है। उसमे पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतो को मूल गुण और शेष साधना के अगो को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतो के होने पर अन्य साधना के अग विकसित हो सकते है। इनके न होने

पर वे विकसित नही हो सकते। इसलिए महाव्रत मूल गुण है। सुदृढ आधार के बिना भवन की मजिलो की कल्पना नही की जा सकती। वैसे ही मूल गुणो का स्थिर अभ्यास किए विना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नही की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसग मे महाव्रतो का प्राथमिक स्थान है।

महाव्रत के पाच प्रकार है

१ अहिसा

२ सत्य

३ अस्तेय

४ ब्रह्मचर्य

५ अपरिग्रह।

इनमे मुख्य स्थान अहिसा का है। शेष सव उसी का विस्तार है। अहिसा के दो रूप होते है

१ सकल्पकृत अहिसा

२ सिद्ध अहिसा।

साधना के आरम्भ में साधक अहिसा का सकल्प स्वीकार करता है। इसमे मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नही होती, इसलिए बार-बार उतार-चढाव आता रहता है। हिसा के सस्कार पुन -पुन उद्दीप्त होते रहते है। किन्तु अहिसा का सकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आन्तरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते कषाय क्षीण होता है, तब अहिसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति मे साधक के मन मे समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन मे फिर शत्रु और मित्र का भेद नही रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नही रहता। हीन और उत्कर्प की भावना समाप्त हो जाती है। निन्दा से ग्लानि और प्रशसा से उत्फुल्लता नही होती। मान और अपमान से उसका मानसिक सतुलन नही विगडता। उसमे सहज सयम विकसित होता है और उसमे सब जीवो को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिसा के साथ-साथ व्यक्ति मे ऋजुता प्रकट होती है, यही उसका

सत्य पक्ष है।

अहिसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिसक व्यक्ति दूसरो के स्वत्व का अपहरण नही करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है।

अहिसक व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है।

अहिसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह वाह्य वस्तुओ मे आसक्त नहीं होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है। ब्रह्मचर्य दो भागो मे विभक्त है

१. संकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य

२. सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रो मे 'घोरबंभयारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न मे भी स्खलित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न मे भी अणुमात्र विचलित नही होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ सकल्पो और साधनो के द्वारा इस भूमिका तक पहुंचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है--मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का सम्बन्ध मुख्यत मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनो भूमिकाओ से सम्बन्धित है। अत. उसकी पालना के लिए शरीर-शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव मे ब्रह्मचर्य को समझने मे भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण है

१ मोह

२ शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसके शरीर मे प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओ मे परिणत होता हुआ सातवी भूमिका मे वीर्य वनता है। उसके वाद वह ओज के रूप मे शरीर मे व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नही है। वह सव

धातुओ का सार है। शरीर मे अनेक नाडिया है। उनमे एक काम-वाहिनी नाडी है। उसका स्थान पैर के अगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते है, उन आसनो से इसी नाडी पर नियत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य वनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय मे भी जाता है। वीर्याशय मे अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नही छोड सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी वनता है, वीर्य भी बनता है। वह अण्डकोश मे जाकर सगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय मे भी जाता है। योगियो ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियंत्रण पाने का कोई उपाय ढूढा जाए ? उन्होने स्पष्ट अनुभव किया—वीर्य केवल वीर्याशय मे जाएगा तो पीछे से चाप पडने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वो को पोषण नही मिलेगा। इसलिए उन्होने वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गान्तरण के लिए ऊर्ध्वाकर्पण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय मे कम जाए और ऊपर सहस्रार-चक्र मे अधिक जाए। इस प्रक्रिया मे वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व मे ले जाने से वे ऊर्ध्वरेता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पडने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनो वर्जनीय है। गरिष्ठ आहार नही पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। सतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कही अधिक आवश्यक है मल-शुद्धि। मल के अवरोध से वायु वनता है। वायु जितना अधिक वनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक वचो। वीर्य को जव अधिक चाप होता है, तब ब्रह्मचर्य के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन मे कहा गया है—'वभचेरे संका वा कखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेय वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायंक हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।'

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ एक साधनो की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमे पहला साधन वीर्य-स्तम्भ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम उर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन मे वैठकर पूर्णरूप से रेचन करे। रेचनकाल में चिन्तन करे, मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है। फिर पूरक करें—जालन्धरवन्ध और मूलवन्ध करे। पूरककाल मे पेट को सिकोडे और फुलाएं। सिकोडने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरको मे सौ वार दोहराएं।

दूसरा ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुम्भक है। चौथा प्रतिसलीनता है।

इन्द्रिया चंचल होती है, पर वह उनकी स्वतत्र प्रवृत्ति नही है। मन से प्रेरित होकर ही वे चचल वनती है। मन जव स्थिर और शान्त होता है, तव वे अपने आप स्थिर और शान्त हो जाती है। मन अन्तर्मुखी वनता है, तब इन्द्रिया अन्तर्मुखी हो जाती है। महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविपयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार·।

—पातंजल योगदर्शन—साधनपाद, ५४

अपने विषयो के असम्प्रयोग मे चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों मे प्रतिसलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र मे इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार वतलाये गए है।

इन्द्रिय प्रतिसलीनता के दो मार्ग है—विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेप निग्रह। आखो से न देखे, यह विपय-प्रचार का निरोध है। विपय के साथ सम्वन्ध स्थापित हो जाए, वहां राग-द्वेष न करना, राग-द्वेप निग्रह

है। प्रतिसलीनता का अर्थ है—अपने आप मे लीन होना। इन्द्रिया सहजतया बाहर दौडती है, उन्हे अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही भीतर से सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसलीनता के लिए कुम्भक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दाये नथुने से श्वास भरे। कुछ देर रोककर अन्त कुम्भक करे। फिर बाये नथुने से श्वास को बाहर निकाल दे। कुछ देर बाह्यकुम्भक करे। इस प्रकार एक बार कुम्भक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुम्भक के साथ नाभि पर ध्यान करे। पूरक करते समय सकल्प करे कि वीर्य नाडियो द्वारा मस्तिष्क मे जा रहा है। सकल्प मे ऐसी दृढता लाए कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढता दिखाई देने लगे। चाप मे भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर सकल्प करे कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नही पडेगा। फलत उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय मे यौन-शास्त्रियो के अभिमत भी मननीय है।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अण्ड और डिम्ब ग्रन्थियो के अन्त स्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगो मे प्रवाहित होते है तो वे युवक और युवती के सर्वागीण विकास मे जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोडते है।

हेलेनाराइट ने इसके लिए बडा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्मविकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन मे कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय मे केन्द्रिय प्राणशक्ति सारे स्नायुमण्डल मे प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यग को पुष्ट कर रही है। थोडे समय मे ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नये चैतन्य से स्फूर्त एव प्रफुल्ल हो उठेगे।

इन साधनो के अतिरिक्त शास्त्रो का अध्ययन, मनन, चितन, व्युत्सर्ग

आदि साधन भी मन को एकाग्र करने मे सहायक होते है। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चितन ही प्रर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-सम्बन्धी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नही है। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनो का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियां होती है ·

१. श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी)
२. कण्ठमणि (थाइरायड)
३. वृषण
४ सर्वकिण्वी (पेनक्रिया)
५. एड्रीनल या सुप्रारीनल
६. पैराथाइरायड
७. तृतीय नेत्र (पीनियलबॉडी)
८. यौवनलुप्त (थाइमस)

पीयूष ग्रन्थि

यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोशो के स्रावो को नियन्त्रित करती है। इस ग्रन्थि के रसो का कार्य इस प्रकार है :

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास।
द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल या नमक का सन्तुलन।
तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियंत्रण।
पीयूष ग्रन्थि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि

यह गर्दन मे श्वास नली से जुडी हुई होती है। इसका आकार

तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ जाती है किन्तु अन्य अंग साथ नही देते, इसलिए वह कमी पूरी नही होती। ऐसी स्थिति मे दुर्वलता आ जाती है। इस ग्रन्थि से रस कम निकले तो वुढापा आ जाता है, सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रन्थि

यह पुरुष के ही होती है। यह अण्डकोशो मे होती है। इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढी-मूछे आती है।

पैनक्रिया ग्रन्थि

यह दो आतो के बीच मे होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि

ये दोनो ग्रन्थिया गुर्दे के ऊपरी हिस्से मे होती है। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते है। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मासपेशियो मे ले जाते है। वह मासपेशियो को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रन्थि

कण्ठमणि के पास गेहू के दाने के बराबर चार ग्रन्थिया होती है। इन्हे पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त मे कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित सतुलन बनाए रखती है।

तृतीय नेत्र ग्रन्थि

यह मस्तिष्क मे होती हैं।

यौवनलुप्त ग्रन्थि

यह सीने मे होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध वृषण ग्रन्थियो से है। वृषण ग्रन्थियां दो स्राव उत्पन्न करती है—वहि:स्राव और अन्त:स्राव। धमनियो द्वारा वृषण-ग्रन्थियो मे रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनो स्रावो के उत्पादक अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते है।

वीर्य अण्डकोश मे उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराए है—एक वीर्याशय, जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य में है—मे जाती है। दूसरी रक्त में मिलकर शरीर मे दीप्ति, मस्तिष्क मे शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त मे अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा मे इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नही पाता। फलतः दोनो प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान है :

१. मूर्धा — ६ वस्ति
२. कण्ठ — ७ ओज
३. हृदय — ८. शुक्र
४. नाभि — ९. शोणित
५. गुदा — १०. मास।

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते है .

१ २. दो शख—पटपड़ियां
३.५ तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर
६. कण्ठ — ८. शुक्र
७. रक्त — ९ ओज
१०. गुदा।

ओज इन दोनो प्रकारो मे है। वह (वीर्य) धातु का अन्तिम सार नही, किन्तु सातो धातुओं (रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अतिम

---

१ सुश्रुत, ११/३७ :
ओजस्तु तेजो धातूना, शुक्रान्ताना पर स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिवन्धनम्॥

सार है।[1] उसका केन्द्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।

इससे दो बाते निसपन्न होती हैं .

१. ओज का सम्बन्ध केवल वीर्य से नही है।

२. वीर्य का स्थान अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य मे तीसरा अन्तर यह है कि वीर्य का मध्यम परिणाम ही लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा मे हो तो क्षीणता आदि दोष बढते है। वह अति मात्रा मे हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[1]

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[2]

वीर्य-व्यय के दो मार्ग है ·

१. जननेन्द्रिय

२ मस्तिष्क।

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड देते है। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क मे होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकार प्रभाव नही होता। मन में मोह ओर सस्कारो मे अशुद्धि उत्पन्न होती है। इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य मे अति आसक्त होता है, उसकी वृपण ग्रन्थियो मे आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहि·स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते है। इसका फल यह होता है कि अन्त:स्राव उत्पन्न करने वाली

---

१ सुश्रुत, ११/१२ अतिस्त्रीकामता वृद्ध, शुक्र, शक्राश्मरीमपि।

२ वही, ११/१२ ओजे वृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिवलोदय ।

अवयव उचित सामग्री के अभाव मे अपना काम करने मे अक्षम रह जाते हैं। फलतः सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अन्त-स्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावो से वचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर मे उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रथो मे इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियो मे सातवी क्यारी मे बडा गर्त हो या उसमे से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल उस गड्ढे मे भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने मे व्यय होगा। यही स्थिति अति-मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्रक्षय मे होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्र-धातु की पुष्टि मे लगता है किन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नही पाता। परिणामतया अन्य वस्तुओ की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर मे विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते है।

ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय-विजय और इन्द्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुत इन्द्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नही है। ब्रह्मचर्य की इन्द्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रवल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते है।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नही होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते है।

कुछ लोगो का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नही होता। इस मत में सचाई का अश भी है पर उसी स्थिति मे जव ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति मे हो। चिन्तन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोडकर अन्य उदात्त भावनाओ की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति मे विकास पाता है। उसका शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बडा लाभदायी प्रभाव पडता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते है, फिर भी नहीं कर पाते। ऐसा क्यो होता है ? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यो उभर आती है ? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब

मोह के कारण होता है। पर शरीरशास्त्र की भाषा मे कर्म का स्थान नही है। उसके अनुसार कामवाहिनी नाडियो मे रक्त का सचरण होने से अव्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका सचरण नही होता तो वह भावना नही उभरती। सचरण कम होने से वह भावना कम उभरती हे और सचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस सदर्भ मे हम उस तथ्य की ओर सकेत कर सकते है कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यो किया गया ?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नही है। प्रथम है—ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ श्रद्धा होना। दूसरा है—वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोडने की साधना। इसमे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण शक्ति से नही।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग मे प्रारम्भ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान मे मन को एकाग्र कर कोई शुभ-सकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शान्त हो जाए।

पेट मे मल, मूत्र और वायु का दबाव बढने से काम-वाहिनी नाडिया उत्तेजित होती है। खान-पान और मल-शुद्धि मे सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत वडी शर्त है। वायु विकार न बढे इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवो के स्पर्श से भी वासना बढ सकती है। इन सारी वातो का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व मे बहुत महत्त्व है, पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोडने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधिया इस प्रकार है

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन मे बैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—वाहर निकालिए। वाह्य कुम्भक कीजिए—श्वास को बाहर रोके हुए रहिए। इस स्थिति मे सकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर मे घूम रहा है। उसका प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

सकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सके, यह सकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अन्दर भरिए। पूरक की स्थिति मे मूलवन्ध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खींचिए तथा जालन्धरबन्ध कीजिए—ठुड्डी को तानकर कण्ठकूप मे लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी वार ऐसा कर सके, कीजिए, फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। इसे अभ्यास बढाते-बढ़ाते सात या नौ बार दोहराइए।

(ख) पीठ के वल चित लेट जाइए। सिर, गर्दन और छाती को सीध मे रखिए। शरीर को विलकुल शिथिल कीजिए। मुह को वन्द कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह संकल्प कीजिए कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय से मुडकर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। कामवाहिनी (जननेन्द्रिय के आस-पास की) नाडिया हल्की हो रही है और मस्तिष्क की नाडिया भारी हो रही हैं।

पूरक के वाद अन्त-कुम्भक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अन्दर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुम्भक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया वढाते-वढाते पन्द्रह-वीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के उर्ध्वारोहण का सकल्प जितना दृढ और स्पप्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे काम-वाहिनी स्नायुओ पर दबाव पड़ता है। उससे मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है। काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। कहा भी है .

मन.स्थैर्यात् स्थिरो वायुस्ततो बिन्दु स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिण्डस्थैर्य च जायते॥

ऊर्ध्वाकर्पण की प्रक्रिया केवल पुरुपो के लिए है। स्त्रियो के लिए

सकल्प शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है।

२६. **शयनकाले सत्संकल्पकरणम्॥**

२७. **ते च –ज्योतिर्मयोऽहं आनन्दमयोऽह स्वस्थोऽहं निर्विकारोऽहं वीर्यवानहं–इत्यादयः॥**

२८. **निद्रामोक्षे जपो ध्यानञ्च॥**

२६ **परानिष्टचिन्तनेन मनोविघातः॥**

३० **आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकासः॥**

२६ सोते समय पवित्र सकल्प करने चाहिए।

२७. मै ज्योतिर्मय हू, आनन्दमय हू, स्वस्थ हू, निर्विकार हू, वीर्यवान् हू–आदि-आदि सत्सकल्प है। संकल्प करते समय मन स्थिर और पवित्र होना चाहिए।

२८. नींद टूटते ही जप और ध्यान करना चाहिए।

२६. दूसरो की अनिष्ट चिन्ता करने से मन की शक्ति का हनन होता है।

३० आत्मौपम्य (प्राणी मात्र को अपने समान मानकर) चिन्तन करने से मन का विकास होता है।

संकल्प

मानसिक विकास के अनेक साधन है। उनमें दृढ संकल्प भी एक साधन है। दृढ सकल्प का व्यक्ति के जीवन पर सीधा असर होता है। उससे व्यक्ति के सस्कारो का निर्माण होता है। मन मे अच्छे विचार जागते है, तब व्यवहार पर भी अच्छाई का प्रतिबिम्ब पडता है। किसी के प्रति बुरी भावना उठती है, तो उसका परिणाम भी लम्बे समय तक भुगतान पडता है।

प्रत्येक व्यक्ति मे मानवीय दुर्बलताए होती है। किसी मे क्रोध, किसी मे ईर्ष्या तो किसी मे आग्रह आदि-आदि। वृत्तियो की शुद्धि के लिए सकल्प सीधा मार्ग है। सकल्प की साधना करने वाला इन सूत्रो पर ध्यान दे ·

(क) सकल्प दृढ निष्ठा व विश्वास के साथ करना चाहिए–मै यह काम कर सकता हूं, यह काम होकर रहेगा।

(ख) संकल्प उच्चारणपूर्वक होना चाहिए। कम से कम बीस-तीस वार सकल्प को जोर से बोलकर दोहराना चाहिए।

(ग) संकल्प मे तन्मय होने से वह शरीर-व्यापी हो जाता है।

(घ) सोने से पहले और जागते ही—ये दो समय संकल्प के लिए अधिक फलप्रद होते है। सोते समय जो विचार किया जाता है, उसे सूक्ष्म (अवचेतन) मन शीघ्रता से ग्रहण करता है। इसलिए नीद मे भी उसका कार्य चलता रहता है। हम जिन विचारो का सकल्प लेकर सोते है, उठते समय वे ही विचार मन मे मिलते है। सोकर उठने के बाद इन्द्रियां और मन शान्त रहते है। उस समय का संस्कार मन पर दृढ़ व गहरा पडता है। इन दो समयो के अतिरिक्त जब भी समय मिले संकल्प को दोहराते रहना चाहिए, जिससे संकल्प-सिद्धि में सहयोग मिलता रहे और अन्य प्रकार के विचार भी न घुसने पाएं।

(च) सकल्प को दोहराते समय लयबद्धता होनी चाहिए। दोहराने का स्वर जितना लम्वा होगा, उतनी ही स्थिरता वढेगी। जितना कम समय होगा, उतनी ही स्थिरता कम होगी। भोजन के तत्काल वाद ऐसा नही करना चाहिए।

(छ) सकल्प मे सातत्य होना चाहिए। पाच दिन संकल्प किया, फिर दो दिन छोड दिया, फिर सात दिन किया, फिर छोड दिया—यह साधना का क्रम नही है। साधना का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

(ज) सकल्प तालयुक्त श्वास के साथ करना चाहिए। जो संकल्प श्वास के साथ भीतर जाता है, वह तीन मिनट मे शरीर के प्रत्येक अवयव पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। पूरक के समय वह सकल्प करना चाहिए कि सकल्प्य वस्तु भीतर जा रही है। कुम्भक काल मे यह सकल्प होना चाहिए कि संकल्प्य वस्तु समूचे शरीर में व्याप्त हो गई है। रेचनकाल मे मन को खाली रखना चाहिए।

सकल्प की पद्धति से जिस स्वभाव को बदलना चाहे, उसे बदलने में हम सफल हो सकते है। नये स्वभाव का निर्माण कर सकते हैं। अभ्यास

से व्यक्ति अपनी शक्ति बढा सकता है। अभ्यास न करने से जो शक्ति होती है, वह भी घट जाती है। आजकल लडकिया पढती है, कुछ वर्ष पहले नही पढती थी। क्या ज्ञानोपलब्धि की क्षमता पुरानी लडकियो में नही थी ? किन्तु उचित सामग्री के अभाव मे वह उपयोग मे नही आ रही थी, अव आ रही है। उचित सामग्री के अभाव मे विद्यमान शक्ति भी उसी तरह हो जाती है। सकल्प की साधना से जैसा चाहे, वैसा वन सकते है। मूल शक्ति व्यक्ति मे ही होती है। वह हीन भावना की परतो के नीचे दबी रहती है। उसे पुरुषार्थ से जगाना अपेक्षित है। इसलिए साधना का महत्त्व है। नदिया अपने आप मे वहती थी। पर वांध बनाने से उनका उपयोग और बढ़ गया। आज उन्ही से लाखो एकड़ भूमि की सिचाई की जाती है। हम उपयोग करना जाने तो हमारे मन में भी अनन्त शक्ति है।

सातवां प्रकरण

१. तपः सत्त्व-सूत्र-एकत्व-वलभेदात् पंचधा भावना प्रतिमां जिनकल्पं वा प्रतिपद्यमानस्य॥

२. तपसा क्षुधाजयः।

३. षण्मासं यावन्न वाधते क्षुधया॥

४. सत्त्वभावनया भयं निद्राञ्च पराजयते॥

५. उपाश्रय-त्तद्‌वहिः चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेष्विति स्थानभेदात् पंचधा॥

६. रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरणं प्रथमा॥

७. क्वचिदुपाश्रयाद् वहिस्तात् कायोत्सर्गकरणं द्वितीया॥

८. चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरणं पराः॥

९. सूत्रभावनया कालज्ञानम्॥

१०. सूत्रपरावर्तनानुसरेण उच्छ्‌वास-प्राणादयः सर्वे कालभेदा अवगताः स्युस्तथा सूत्रपरिचयः॥

११. एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मानं भावयन् भवति निरभिष्वङ्गः॥

१२. वलभावनया परीषहाणां जयः॥

१३. वलं शारीरं मानसञ्च॥

१४. तत्र मानसं तथा परिवर्धितं यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत् वाधा॥

१५ यथाशक्ति चैताः परेषामपि॥

१. प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेप विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पाच भावनाए होती है ·

१. तप ४. एकत्व
२ सत्त्व ५ वल
३. सूत्र

वह इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पाच तुलाए है, इनसे अपनी आत्मा को तोलता है। फिर प्रतिमा या जिनकल्प को स्वीकार करता है।

२ तप-भावना से भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

३ वह परम योगी भूख को जीतते-जीतते ऐसा अभ्यास कर लेता है कि छह मास तक न खाने पर भी भूख से पीडित नही होता। उसका मन आर्त्त नही होता। शरीर मे ग्लानि उत्पन्न नहीं होती।

४ सत्त्व भावना से भय और नीद पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

५ क्रमिक अभ्यास के लिए वह उपाश्रय, उसके वाहरी भाग, चतुष्क, शून्यगृह और श्मशान—इन पाच स्थानो मे कायोत्सर्ग करता है।

६. रात के समय सब साधुओ के सोने पर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए उठकर उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना—यह पहली सत्त्व भावना है।

७ पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से बाहर कही एकान्त में कायोत्सर्ग करना दूसरी सत्त्व भावना है।

८ अभ्यास का परिपाक होते-होते चौराहे, सूने घर व श्मशान मे कायोत्सर्ग करना—क्रमश ,तीसरी, चौथी और पांचवीं सत्त्व भावना है।

९ सूत्र भावना से समय का ज्ञान होता है।

१० सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदो का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रो को परिचित करने का अभ्यास किया जाता है। श्वास-प्रश्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है। एक मात्रा भी इतस्ततः नही होती।

११ एकत्व भावना के द्वारा देह और उपकरणो से अपनी आत्मा को

भिन्न रूप मे भावित कर निर्लेपता का अभ्यास किया जाता है।

१२ बलभावना से परीषहो (कष्टों) पर विजय प्राप्त की जाती है।

१३. वल दो प्रकार का होता है ·

१. शारीरिक

२. मानसिक

१४. उनके द्वारा मनोबल इतना परिवर्धित किया जाता है, जिससे परीपहो व उपसर्गो के समुत्पन्न होने पर भी वह कभी विचलित नही होता।

१५. प्रतिमाधर व जिनकल्प मुनि इन भावनाओ से अपने-आपको पूर्णत· भाग्वित करता है। किन्तु यथाशक्ति दूसरे भिक्षु या गृहस्थ भी अपने अ।पको भावित कर सकते है।

साधना की उच्च प्रक्रिया

भूख, पराक्रम-हीनता, अज्ञान, आसक्ति और दुर्बलता—ये पाच साधना के बहुत वडे विघ्न है। इन पर जितने अश मे विजय पायी जाती है, उतने ही अंश मे साधना उद्दीप्त होती है। दीर्घकाल तक कायोत्सर्ग करने का इच्छुक साधक अथवा तीर्थकर तुल्य साधना करने का इच्छुक साधक उन विघ्नों पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। साधना के प्रथम चरण मे भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है। दूसरे चरण मे भय और निद्रा पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। तीसरे चरण मे प्राण की सूक्ष्मता के साथ शास्त्रीय ज्ञान का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ चरण में सव पदार्थो से भिन्नता की दृढ अनुभूति प्राप्त कर आसक्ति पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। पाचवे चरण मे साधना मे आने वाले कष्टों पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है।

कण्ठकूप मे वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है। यह पाचवे प्रकरण मे वतलाया गया है। वहा भूखविजय की भावनात्मक प्रक्रिया का उल्लेख है। खाए बिना रहने का बार-बार अभ्यास तथा आहार न करते हुए भी तृप्ति और पुष्टि की सुदृढ भावना, अनुभूति या संकल्प करने से शरीर मे कुछ रासायनिक परिवर्तन होते है और भूख की प्रखरता मन्द हो जाती है। इस तपोभावना से साधक छह

मास तक खाए बिना रह जाता है।

भय और नीद पर विजय पाने के लिए पाच अभ्यासक्रम बतलाए गए है—रात्रि के समय उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना। उसके सध जाने पर उपाश्रय के आस-पास बाहरी भाग मे कायोत्सर्ग करना। वहा अभय प्राप्त हो जाने पर चौराहे मे कायोत्सर्ग करना। फिर सूने घर मे और श्मशान मे। इस प्रकार क्रमिक अभ्यास से भय और नीद—दोनो पर विजय प्राप्त हो जाती है।

प्राण, मन और वाणी—तीनो मे सामरस्य या सामजस्य उत्पन्न करने पर चित्त की चचलता या विषमता क्षीण हो जाती है। सूत्र भावना के द्वारा साधक इसी सामरस्य का अभ्यास करता है। उच्चारण और काल की मात्रा इतनी सध जानी चाहिए कि उच्चारण के द्वारा काल को और काल के द्वारा उच्चारण को मापा जा सके। कायोत्सर्ग या ध्यान मे काल का ज्ञान उच्चारण और श्वास के द्वारा ही किया जाता है। एक श्वास-प्रश्वास मे श्लोक के एक चरण का उच्चारण किया जाए तो एक मिनट मे बारह चरण उच्चारित होते है। इसका अर्थ हुआ एक मिनट मे बारह श्वास-प्रश्वास लिये जाते है। अभ्यास की परिपक्वता होने पर बारह चरणो के उच्चारण का अर्थ होता है—बारह श्वास-प्रश्वास और बारह श्वास-प्रश्वासो का अर्थ होता है—एक मिनट। इस प्रकार उच्चारण, श्वास-प्रश्वास और समय—तीनो की दूरी समाप्त होकर वे एकरूप हो जाते है। इस प्रक्रिया मे चिरकाल के बाद श्वास की गति मन्द हो जाती है। एक मिनट मे आने वाले सोलह-सत्रह श्वास घटकर पाच-सात रह जाते है। जिस प्रकार श्वास की गति मन्द होगी, उसी अनुपात से उच्चारण की सख्या भी कम हो जाएगी। इस साधना की अतिम परिणति प्राणलब्धि के रूप मे बदल जाती है। प्राण-लब्धि-सम्पन्न साधक मानस-चक्षु से असीम ज्ञान का साक्षात् कर लेता है।

आसक्ति द्वैत मे पैदा होती है। अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—वहा क्या मोह और क्या शोक होगा जो एकत्व को देखता है—

तत्र को मोह· क· शोक· एकत्वमनुपश्यत ।

एकत्व की भावना का दृढ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि

पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। सयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नही कर सकते किन्तु इस वास्तविकता को भी नही भुला सकते कि अन्तत. आत्मा उन सबसे भिन्न है। इस भेदज्ञान की अनुभूति को पुष्ट कर साधक देह मे रहते हुए भी देह के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

बल की भावना से साधना की यात्रा मे आने वाले कष्टो को सहन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन पांच भावनाओ के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि साधक वही व्यक्ति हो सकता है जो तपस्वी है, पराक्रमी है, ज्ञानी है, जिसे भेदज्ञान का दृढ अभ्यास है और जो बलवान् है। ये भावनाए कुछ लोगो मे—जिनका शारीरिक सहनन सुदृढ और मनोबल विकसित होता है—अधिक जागृत होती है।

कुछ लोगो की धारणा है कि ये भावनाएं पुराने जमाने मे ही हो सकती थी, आज नहीं हो सकती। किन्तु यह धारणा निराशा को जन्म देती है। आज भी शक्ति के अनुसार ये भावनाएं हो सकती है। यदि हम यह मानकर बैठ जाए तो हमारे सामने कुछ करने का अवकाश ही नहीं रहता। यदि हम इनकी सभावना को स्वीकार करते है तो अवश्य ही कुछ न कुछ आगे बढते है।

परिशिष्ट

१

प्रेक्षा की पांच भूमिकाएं

प्रेक्षा की सामान्य विधि का शिविर काल मे उपयोग किया जाता है। प्रस्तुत भूमिकाए विशेप प्रयोग की है जो व्यक्ति अनेक शिविर कर लेते है उन्हें तथा जो प्रशिक्षक की अर्हता प्राप्त करते है उन्हे इन भूमिकाओ का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

प्रथम भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान : श्वास प्रेक्षा

(क) प्रेक्षा-ध्यान : दीर्घ श्वास के साथ

कायोत्सर्ग मुद्रा मे, सुखासन या पद्मासन मे स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक श्वास और प्रश्वास को दीर्घ—लम्बा करते हुए श्वास की प्रेक्षा का अभ्यास करे।

समय—दस मिनट से एक घटा तक।

(ख) प्रेक्षा-ध्यान : समवृत्ति श्वास के साथ

मुद्रा और आसन—ऊपरवत्।

संकल्पपूर्वक श्वास के स्वर को वदलते हुए, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे समान समय लगाए और श्वास की प्रेक्षा का अभ्यास करे।

समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

(ग) प्रेक्षा-ध्यान : सहज श्वास के साथ

मुद्रा और आसन—ऊपरवत्

सहज श्वास की प्रेक्षा करे।

समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

एक बिन्दु पर दृष्टि टिकाकर अनिमेप ध्यान करे। विन्दु दृष्टि की समरेखा मे तीन फीट की दूरी पर होना चाहिए। भृकुटि या नासाग्र पर भी किया जा सकता है।

समय—एक मिनट से पाच मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **अनित्य अनुप्रेक्षा**

समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**

समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

(ग) **'हुं' भावना**

समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम

रेचनपूर्वक बाह्य कुम्भक।

समय—पाच मिनट तक सुविधापूर्वक जितनी आवृत्तिया हो सके।

५. संकल्प-योग

प्रात कालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पाच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियो का सजगतापूर्वक निरीक्षण करे—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो मे भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का, इत्यादि। जो क्रिया करे उसकी स्मृति वनी रहे।[१]

द्वितीय भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा**—प्रेक्षा-ध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ—कायोत्सर्ग मुद्रा मे सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो सूक्ष्म श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करे।

समय—दस मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **प्रकम्पन-प्रेक्षा**—सिर से लेकर पैर तक क्रमश शरीर के प्रत्येक अवयव मे सूक्ष्म श्वास के साथ प्रकम्पन पैदा करे और उनकी प्रेक्षा करे।

समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

---

१ प्रेक्षा-ध्यान की प्रथम भूमिका के साधक के लिए निम्नलिखित चर्या आदि का पालन आवश्यक होगा—

१ **आहार-सयम**

(क) परिमित भोजन।

(ख) मादक, उत्तेजक और गरिष्ठ भोजन का वर्जन (जैसे—औपध आदि के अतिरिक्त लहसुन, प्याज आदि उत्तेजक, भाग आदि। मादक तथा मैदा, मावा, तली हुई खाद्य-सामग्री आदि गरिष्ठ भोजन का वर्जन।

२ **वाणी-सयम**—प्रतिदिन कम से कम दो घटे मौन।

३ **निद्रा-संयम**—प्रतिदिन छ या सात घटे से अधिक निद्रा का वर्जन।

४ **व्रत-साधना**—अणुव्रत या व्रत-दीक्षा।

५ **स्वाध्याय**—साधना-विषयक ग्रथो का प्रतिदिन नियमित स्वाध्याय करना

६ **आसन प्रयोग**—निम्नलिखित आसनो का अभ्यास उपयोगी होगा—
१ सर्वांगासन, २ हलासन, ३ मत्स्यासन, ४ भुजगासन, ५ पश्चिमोत्तानासन, ६ योगमुद्रा, ७ कायोत्सर्गासन (दस मिनट तक)।

(ग) **सहज प्रकम्पन-प्रेक्षा**– सिर से लेकर पैर तक प्रत्येक अवयव मे होने वाले सहज प्रकम्पनो का निरीक्षण करें।
समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

समय—तीन मिनट से सात मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **एकत्व-अनुप्रेक्षा**
समय—पांच मिनट से एक घटा तक।
(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।
(ग) **'हुं' भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम

रेचकपूर्वक वाह्य कुम्भक।
समय—पाच मिनट तक सुविधापूर्वक जितनी आवृत्तिया हो सके।

५. संकल्प योग

प्रात कालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पाच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियो का सजगतापूर्वक निरीक्षण करे—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो मे भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया में तन्मय रहने का अभ्यास करें। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति बनी रहे।[1]

तृतीय भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा—प्रेक्षाध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ**—कायोत्सर्ग मुद्रा मे, सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो सूक्ष्म श्वास के साथ श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करें।
समय—दस मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **सहज प्रकम्पन-प्रेक्षा**—सिर से लेकर पैर तक प्रत्येक अवयव मे होने वाले सहज प्रकम्पनो का निरीक्षण करे।
समय—पाच मिनट से एक घंटा तक।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे इन्द्रिय-विषयो की सप्रेक्षा।
समय—पाच मिनट से एक घंटा तक।

---

१ प्रेक्षा-ध्यान की द्वितीय भूमिका के साधक के लिए निम्नलिखित चर्या आदि का पालन आवश्यक होगा—
१. **आहार-संयम**—प्रथम भूमिकावत्।
२ **वाणी-संयम**—प्रतिदिन तीन घंटा मौन।
३. **निद्रा-संयम**—प्रथम भूमिकावत्।
४ **व्रत-साधना**—अणुव्रत या व्रत-दीक्षा।
५ **स्वाध्याय**
६. **आसन-प्रयोग**—पद्मासन (मूलवध सहित), वद्धपद्मासन (समय-पाच मिनट), सिद्धासन, जालन्धरवन्ध, कायोत्सर्गासन (समय-दस मिनट)।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष-प्रेक्षा

समय—पाच मिनट से नौ मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **अशरण-अनुप्रेक्षा**
समय—पाच मिनट से आधा घंटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

(ग) **'ऐं' भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम : केवल कुम्भक

पूरक-रेचक किए बिना श्वास भीतर हो तो भीतर, बाहर हो तो बाहर, जहा कही हो उसे वहा रोककर कुम्भक किया जाए। दस या पन्द्रह आवृत्तिया की जाए।

५. संकल्प-योग

प्रात कालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पाच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियो का सजगतापूर्वक निरीक्षण करे—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो मे भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही

अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का ही, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति वनी रहे।[1]

चतुर्थ भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा · प्रेक्षा-ध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ**
समय—दस मिनट से एक घटा तक।

(ख) **संयम**—मन, वचन, काया की जो मांग सामने आए, उसे अस्वीकार करना, विकल्प का उत्तर न देना—प्रतिक्रिया न होने देना। केवल इन्द्रियो से काम लेना, उनके साथ मन को न जोडना। ईहा न करना। प्रियता और अप्रियता के मध्यविन्दु की खोज करना, मध्य मे रहना—मध्यस्थ भाव का विकास करना।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे विचार-सप्रेक्षा।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष-प्रेक्षा

समय—पांच मिनट से नौ मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **मैत्री-अनुप्रेक्षा**
समय—पाच मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

(ग) **'ऐं' भावना**
समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

४. श्वास-संयम : केवल कुम्भक

पूरक-रेचक किए बिना श्वास भीतर हो तो भीतर, बाहर हो तो बाहर,

---

१ तृतीय भूमिका के साधक की चर्या आदि पूर्ववत् रहेगी। केवल आसनो के समय मे इस प्रकार परिवर्तन होगा—
बद्धपद्मासन—दस मिनट
कायोत्सर्गासन—पन्द्रह मिनट।

जहा कही हो उसे रोककर कुम्भक किया जाए। दस या पन्द्रह आवृत्तिया की जाए।

५. संकल्प-योग

प्रात कालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पाच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियो का सजगतापूर्वक निरीक्षण करे—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो मे भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का ही, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति बनी रहे।[1]

पांचवीं भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा**—पूर्ववत्।

(ख) **धर्म-प्रेक्षा**—(धर्म ध्यान)

भूत, वर्तमान और भविष्य के धर्मो अथवा पर्यायो को देखना—विपाक-प्रेक्षा, अपायप्रेक्षा, सस्थान-प्रेक्षा।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे वेदना-सप्रेक्षा।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

पूर्ववत्।

---

१ चतुर्थ भूमिका के साधक की चर्या आदि पूर्ववत् रहेगी। केवल आसनो के समय मे इस प्रकार परिवर्तन होगा—
वद्धपद्मासन—पन्द्रह मिनट।
कायोत्सर्गासन—पचीस मिनट।

(ख) **अर्हम् भावना**

समय—पांच मिनट से आधा घटा तक।

(ग) **ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् नमः भावना**

समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम

एक मिनट मे एक श्वास या दो मिनट मे एक श्वास का प्रयोग।

५ सकल्प-योग

पूर्ववत्

६. प्रतिक्रमण-योग

पूर्ववत्।

७. भाव-क्रिया

पूर्ववत्[1]।

पांच भूमिकाओ की कालावधि इस प्रकार है—

प्रथम भूमिका —एक मास
द्वितीय भूमिका —दो मास
तृतीय भूमिका —तीन मास
चतुर्थ भूमिका —चार मास
पचम भूमिका —पाच मास

---

१ पाचवीं भूमिका के साधक की चर्या आदि पूर्वघत् रहेगी। केवल आसनों के समय मे इस प्रकार परिवर्तन होगा—
वद्धपद्मासन—पन्द्रह मिनट।
कायोत्सर्गासन—पचीस मिनट।

२

प्रेक्षाध्यान के आधारभूत तत्त्व

जैन साधको की ध्यान-पद्धति क्या है—यह प्रश्न किसी दूसरे ने नहीं पूछा, स्वय हमने ही अपने आपसे पूछा। पन्द्रह वर्ष पूर्व (वि॰ स॰ २०१७), यह प्रश्न मन मे उठा और उत्तर की खोज शुरू हो गई। उत्तर दो दिशाओ से पाना था—एक आचार्य से, दूसरा आगम से। आचार्यश्री ने पथ-दर्शन दिया और मुझे प्रेरित किया कि आगम से इनका विशद उत्तर प्राप्त किया जाए।

आगम-साहित्य मे ध्यान विपयक कोई स्वतन्त्र आगम उपलब्ध नही है। नदी-सूत्र की उत्कालिक आगमो की सूची मे 'ध्यान-विभक्ति' नामक आगम का उल्लेख है, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है।[1] इस स्थिति मे उपलब्ध आगम साहित्य मे आए हुए ध्यान-विपयक प्रकरणो का अध्ययन शुरू किया और साथ-साथ उनके व्याख्या-ग्रथो तथा ध्यान-विषयक उत्तरवर्ती साहित्य का भी अवगाहन किया। इस अध्ययन से जो प्राप्त हुआ उसके आधार पर ध्यान की एक रूपरेखा उत्तराध्ययन के टिप्पणो मे प्रस्तुत की गई।[2] विक्रम सवत् २०१८ मे आचार्यश्री ने 'मनोनुशासनम्' की रचना की। मैने पहले उसका अनुवाद किया और वि॰ स॰ २०२४ मे उस पर विशद व्याख्या लिखी। उसमे जैन-साधना पद्धति के कुछ रहस्य उद्घाटित हुए। वि॰ स॰ २०२८ मे आचार्यश्री के सान्निध्य मे साधु-साध्वियों की विशाल परिषद् मे जैन योग के विषय मे पाच भापण हुए। उससे दृष्टिकोण को और कुछ स्पष्टता मिली। वे 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' इस शीर्षक से

---

१. नदी-सूत्र, ७६

२ देखे—उत्तरज्झयणाणि, भाग-२

प्रकाशित है। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के वर्ष में 'महावीर की साधना का रहस्य' पुस्तक प्रकाशित हुई। ये सारे प्रयत्न उसी प्रश्न का उत्तर पाने की दिशा मे चल रहे थे।

उस प्रश्न का बीज विक्रम सवत् २०१२ के उज्जैन चातुर्मास मे बोया गया था। वहां आचार्यश्री के मन मे साधना विषयक नये उन्मेष लाने की बात आयी। 'कुशल-साधना'—इस नाम से कुछ अभ्यास-सूत्र निर्धारित किये गए और साधु-साध्वियो ने उनका अभ्यास शुरू किया। साधना के क्षेत्र मे यह एक प्रथम रश्मि थी। उससे वहुत नही, फिर भी कुछ आलोक अवश्य मिला। उसके पश्चात् अनेक छोटे-छोटे प्रयत्न चलते रहे। वि॰ स॰ २०२० की सर्दियों में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 'प्रणिधान कक्ष' का प्रयोग किया गया। उस दस दिवसीय साधनासत्र मे काफी वड़ी सख्या मे साधु-साध्वियो ने भाग लिया। उसमे 'जैन योग' पर काफी चर्चा हुई। भावक्रिया के विशेप प्रयोग किए गए। उस चर्चा का संक्षिप्त संकलन 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' पुस्तक मे प्राप्त है।

कई शताब्दियों से पहले विच्छिन्न ध्यान-परम्परा की खोज के लिए ये सभी प्रयत्न पर्याप्त सिद्ध नही हुए। जैसे-जैसे कुछ रहस्य समझ मे आते गए, वैसे-वैसे प्रयत्न को तीव्र करने की आवश्यकता अनुभव होती गयी। वि॰ सं॰ २०२६ मे लाडनू मे एकमासीय साधना-सत्र का आयोजन किया गया। उसके वाद चूरू, राजगढ, हिसार और दिल्ली—इन चारो स्थानो मे दस-दस दिवसीय साधना-सत्र आयोजित किए गए। ये सभी साधना-सत्र 'तुलसी अध्यात्म नीड्म' जैन विश्वभारती के तत्त्वावधान मे और आचार्य तुलसी के सान्निध्य में सम्पन्न हुए। इन शिविरो ने साधना का पुष्ट वातावरण निर्मित किया। अनेक साधु-साध्वियां तथा गृहस्थ ध्यानसाधना मे रुचि लेने लगे। अनेक साधु-साध्विया इस विपय मे विशेष अभ्यास और प्रयोग भी करने लगे।

इन बहु-आयामी प्रयत्नो के द्वारा भावक्रिया, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, भावना—ये विषय उत्तोरत्तर स्पष्ट होते गए, किन्तु ध्यान का विपय उतना स्पष्ट नही हुआ जितना कि होना चाहिए था। ध्यान के सूत्र हाथ लगे पर उनका अर्थ हाथ नही लगा। गुरुमुख से जो अर्थ समझाया जाता था। जो पद्धति सिखायी जाती थी, वह प्राप्त नही हो सकी। वि॰ स॰ २०२८

के लाडनू चातुर्मास मे मैने आचारांग का अनुवाद प्रारम्भ किया। उसके ध्यान सूत्रो की ओर दृष्टि आकर्षित हुई। वह सूत्रात्मक शैली मे लिखा हुआ आगम है। उसमे ध्यान के सूत्र प्रकट मे आए, किन्तु उनकी अभ्यास-पद्धति परम्परा के अभाव मे कैसे पकड़ी जा सकती थी? महर्षि पतंजलि के 'योगसूत्र' और बौद्धों के 'विशुद्धिमग्ग' के आलोक मे आचारांग के 'ध्यानसूत्रो' की अभ्यास-पद्धति को समझने का प्रयत्न किया गया और उसमे कुछ सफलता मिली। वि. सं. २०३१ मे 'अध्यात्म साधना केन्द्र' दिल्ली मे सत्यनारायणजी गोयनका ने 'विपश्यना ध्यान शिविर' का आयोजन किया। उसमे अनेक साधु-साध्वियो ने भाग लिया। मै भी उसमे सम्मिलित था। उस शिविर मे हम लोग 'आनापानसती' और 'विपश्यना' का प्रयोग कर रहे थे। मै प्रयोग के साथ-साथ अपने प्रश्न का समाधान भी खोज रहा था और उससे कुछ समाधान मिला भी। जैन और बौद्ध—दोनो एक ही श्रमण परम्परा के अंग है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—दोनो सम-सामयिक हैं। दोनो की ध्यानपद्धति मे साम्य है। राग-द्वेष के मल को क्षीण कर चित्त को निर्मल बनाना और चैतसिक निर्मलता के द्वारा चेतना को जागृत करना, दोनो परम्पराओ को इष्ट है। बौद्ध परम्परा में ध्यान शाखा का अस्तित्व उपदेश शाखा से स्वतन्त्र रहा, इसलिए उसमे ध्यान के अभ्यास की पद्धति अविच्छिन्न रूप मे चलती रही। जैन परम्परा मे ध्यान की कोई स्वतन्त्र शाखा नही रही, इसलिए उसके ध्यानसूत्रो की अभ्यास-पद्धति विच्छिन्न हो गयी। उस विच्छिन्न अभ्यास-पद्धति को समझने मे विपश्यना ध्यान का प्रयोग बहुत सहायक सिद्ध हुआ। गोयनकाजी जैसे साधना-सिद्ध, उदारमना और ऋजु-प्रकृति के व्यक्ति से विपश्यना के रहस्यो को समझने मे और अधिक सहायता मिली। उसी वर्ष (वि. स. २०३१) लाडनू मे तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती के तत्त्वावधान मे फिर बीस दिवसीय विपश्यना ध्यान शिविर आयोजित किया गया। उसमे सौ से अधिक साधु-साध्विया सम्मिलित थी। बीस दिन के निरन्तर अभ्यास से जहां विपश्यना की गहराई मे उतरने का अवसर मिला, वहा उसके अन्तस्थल की गहराई को समझने का भी मौका मिला। जैन परम्परा के ध्यान-सूत्रो की अभ्यास पद्धति और अधिक स्पष्ट हो गई। हमने साधना की सभी पद्धतियो—हठयोग, तन्त्रशास्त्र, शैव, शाक्त, राजयोग आदि का

अनुशीलन किया और उनसे लाभ भी उठाया, किन्तु उनके शिविरकालीन अभ्यास मे सम्मिलित होने का अवसर नही मिला। ध्यान का रहस्य सिद्धान्त से नही समझा जा सकता, वह अभ्यास से समझा जा सकता है।

वि॰ स॰ २०३२ जयपुर चातुर्मास में जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ। हम लोग आचार्यश्री के उपपात मे बैठे और सकल्पपूर्ति का उपक्रम शुरू हुआ। हमने ध्यान की इस अभ्यास-विधि का नामकरण 'प्रेक्षा-ध्यान' किया। इसकी पाच भूमिकाए निर्धारित की गयी। यह 'प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति' के विकास का संक्षिप्त इतिहास है।

प्रेक्षा

प्रेक्षा शब्द ईक्ष् धातु से बना है। इसका अर्थ है—देखना। प्र+ईक्षा =प्रेक्षा, इसका अर्थ है—गहराई मे उतरकर देखना। विपश्यना का भी यही अर्थ है। जैन साहित्य मे प्रेक्षा और विपश्यना—ये दोनो शब्द प्रयुक्त है। प्रेक्षा-ध्यान और विपश्यना ध्यान—ये दोनो शब्द इस ध्यान-पद्धति के लिए प्रयुक्त किए जा सकते थे, किन्तु 'विपश्यना-ध्यान' इस नाम से बौद्धो की ध्यान-पद्धति प्रचलित है। इसलिए 'प्रेक्षा-ध्यान' इस नाम का चुनाव किया गया। दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है—सपिक्खए अप्पगमप्पएण'—'आत्मा के द्वारा आत्मा की सप्रेक्षा करो, मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है। इसीलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षा-ध्यान' रखा गया है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत चेतना मे जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है—जानो और देखो। भगवान् महावीर ने साधना के जो सूत्र दिए है, उनमे 'जानो और देखो' यही मुख्य है। 'चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो'—यह वहुत गौण और बहुत प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र मे बहुत आगे नही ले जाता।

भगवान् महावीर ने बार-बार कहा—जानो और देखो। आचाराग सूत्र इसका साक्ष्य है। महावीर कहते है—'हे आर्य ! तू जन्म और वृद्धि के

क्रम को देख।[1] जो क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। जो मान को देखता है, वह माया को देखता है। जो माया को देखता है, वह लोभ को देखता है। जो लोभ को देखता है, वह प्रिय को देखता है। जो प्रिय को देखता है, वह अप्रिय को देखता है। जो अप्रिय को देखता है, वह मोह को देखता है। जो मोह को देखता है, वह गर्भ को देखता है। जो गर्भ को देखता है, वह जन्म को देखता है। जो जन्म को देखता है, वह मृत्यु को देखता है। जो मृत्यु को देखता है, वह नरक और तिर्यञ्च को देखता है। जो नरक और तिर्यञ्च को देखता है, वह दु:ख को देखता है। जो दु:ख को देखता है वह क्रोध से लेकर दु:ख पर्यन्त होने वाले इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है।[2] 'यह निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।'[3] 'तू देख यह लोक चारो ओर प्रकंपित हो रहा है।'[4] ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है और मध्य मे स्रोत है। उन्हे तुम 'देखो।[5] 'महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ—मन, वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर) होकर जानता-देखता है।[6] 'जो देखता है उसके लिए कोई उपदेश नही होता।[7] जो देखता है उसके कोई उपाधि होती है या नही होती ? उत्तर मिला—नही होती।[8]

उक्त कुछ सूत्रो से देखने और जानने की बात समझ मे आ सकती है। देखना साधक का सबसे बडा सूत्र है। जब हम देखते है तब सोचते नहीं है और जब हम सोचते है तब देखते नहीं है। विचारो का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और सबसे अतिम साधन है—देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोडने का सबसे सशक्त उपाय है—देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखे, विचार

---

१ आयारो, ३/२६ जाति च वुड्ढि च इहज्ज । पासे।
२ आयारो, ३/८३, ८४।
३ आयारो, ३/८५ एय पासगस्स दसण उवरयसत्थस्स पलियतकरस्स।
४. आयारो, ४/३७ - लोय च पास विप्फदमाण।
५. आयारो, ५/११८
६ आयारो, ५/१२० एस मह अकम्मा जाणति पासति।
७ आयारो, २/१८५ उद्देसो पासगस्स णत्थि।
८ आयारो, ३/८७ - किमत्थि उवाहि पासगस्स ण विज्जइ ? णत्थि।

समाप्त हो जाएगे, विकल्प शून्य हो जाएगे। आप स्थिर होकर अपने भीतर देखे,—अपने विचारो को देखे या शरीर के प्रकम्पनों को देखे तो आप पाएगे कि विचार स्थगित है और विकल्प शून्य है। भीतर की गहराइयो को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमे बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

देखना वह है, जहा केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहा प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग और द्वेष उभर जाए वहा देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है।

हम पहले देखते है, फिर जानते है। इसे इस भाषा मे स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते है, वैसे-वैसे जानते चले जाते है। मन से देखने को 'पश्यत्ता' (पासणया) कहा गया है। इन्द्रिय-संवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

जो पश्यक—द्रष्टा है, उसका दृश्य के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है।[1]

भगवान् महावीर ऊंचे, नीचे और मध्य मे प्रेक्षा करते हुए समाधि को प्राप्त हो जाते थे।[2] उक्त चर्चा के सन्दर्भ मे प्रेक्षा-ध्यान का मूल्याकन किया जा सकता है।

माध्यस्थ्य या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रंजित नही होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नही होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनो की उपेक्षा करता है—दोनो को निकटता से देखता है। और उन्हे निकटता से देखता है इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नही किया जा सकता। 'जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।[3]

---

१ आयारो, २/११८ अण्णहा ण पासए परिहरेज्जा।

२ आयारो, ६/४/१४
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।

३ सूयगडो, १/१२/१८
उवेहती लोगमिण महत वुद्धप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा। चूर्णि, पृ. २६८
उवेहती—उपेक्षते, पश्यतीत्यर्थ , उपेक्षा करोति, सर्वत्र माध्यस्थ्यमित्यर्थ॥

चक्षु दृश्य को देखता है पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है, तव न वह कर्मवन्ध करता है, और न विपाक मे आये हुए कर्म का वेदन करता है।[1] जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलव्ध हो जाता है, वह व्याधि या अन्य आगतुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है, पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नही करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नही होती किन्तु कर्म के वंध, सत्ता उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

अप्रमाद

ध्यान का स्वरूप है अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या मतत जागरूकता। भगवान् महावीर दिन-रात जागृत रहते थे।[2] जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र होता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है। भगवान् महावीर ने कहा—जो प्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति, अपने चैतन्य के प्रति जागृत नही होता, वह सब ओर से भय का अनुभव करता है। जो अप्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति, अपने चैतन्त के प्रति जागृत होता है, वह कही भी भय का अनुभव नही करता, सर्वथा अभय होता है।[3]

भगवान् ने अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम से कहा—'समय गोयम ! मा पमायए' गौतम ! तू क्षणभर भी प्रमाद मत कर।[4] यह उपदेश-गाथा है।

---

१ समयसार, गाथा ३१६, ३२०

अण्णाणी कम्मफल पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेहु।
णाणी पुण कम्मफल जाणइ उदिय ण वेदेइ॥३१६॥
दिट्ठी जहेव णाण अकारय तह अवेदय चेव।
जाणइ य वधमोक्ख कम्मुदय णिज्जर चेव॥३२०॥

२ आयारो, ९/१/४

राइ दिव पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।

३ आयारो, ३/७५

सव्वतो पमत्तस्स भय, सव्वतो अप्पमत्तस्स नत्थि भय।

४ उत्तरज्झयणाणि, १०/१

पर अभ्यास की कुशलता के बिना कैसे सभव है कि व्यक्ति क्षणभर भी प्रमाद न करे ? भगवान् ने गौतम को अप्रमाद का उपदेश दिया तो अप्रमत्त रहने की साधना भी बतलाई होगी। अन्यथा इस उपदेश का कोई अर्थ भी नही होता। मन इतना चचल और मोहग्रस्त है कि मनुष्य क्षणभर भी अप्रमत्त नहीं रह पाता। वह अप्रमाद की साधना क्या है ? अप्रमाद के आलम्बन क्या है ? जिनके सहारे गौतम अप्रमत्त रहे और कोई भी व्यक्ति अप्रमत्त रह सकता है। उन आलम्बनो की क्रमबद्ध व्याख्या आज उपलब्ध नही है, फिर भी महावीर की वाणी में वे आलंबन-बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए आज भी उपलब्ध है। इस प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति मे उन्ही बिखरे बीजो को एकत्र किया गया है। अप्रमाद के मुख्य आलबन ये है ·

१. श्वास-प्रेक्षा
२ कायोत्सर्ग
३ शरीर-प्रेक्षा
४. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा
५ समता
६ सयम
७ भावना
८. अनुप्रेक्षा
९. एकाग्रता।

१. श्वास-प्रेक्षा

मन की शान्त स्थिति या एकाग्रता के लिए श्वास का शान्त होना बहुत जरूरी है। शान्त श्वास के दो रूप मिलते है—१ सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, २ मन्द श्वास-प्रश्वास। कायोत्सर्ग शतक मे बताया गया है कि धर्म्य और शुक्ल ध्यान के समय श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म कर लेना चाहिए।[1]

ध्यान तीन प्रकार के होते है—कायिक, वाचिक और मानसिक। शरीर की प्रवृत्तियो का निरोध करना कायिक ध्यान है। इस ध्यान मे श्वास-प्रश्वास का निरोध नही किया जाता किन्तु उसे सूक्ष्म कर लिया जाता है।[2] आचार्य

---

१ कायोत्सर्ग शतक, गाथा, ५१
ताव सुहमाणुपाणू, धम्म सुक्क च झाइज्जा।

२ व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा १२३
कायचेट्ठ निरुंभित्ता मण वाय च सव्वसो।
वट्टइ काइए झाणे सुहुमुस्सासव मुणी॥

मलयगिरि ने इसके विवरण मे लिखा है कि कायोत्सर्ग मे सूक्ष्म श्वास का निरोध नही होता, क्योकि वह किया नही जा सकता।[1] 'कायोत्सर्ग शतक' मे भी सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास के विधान के साथ सर्वथा श्वास के निरोध का निपेध किया गया है—'अभिनव-कायोत्सर्ग' करने वाला भी सम्पूर्ण रूप से श्वास का निरोध नही करता तो फिर चेप्टा-कायोत्सर्ग करने वाला उसका निरोध क्यो करेगा ? श्वास के निरोध से मृत्यु हो जाती है, अत कायोत्सर्ग मे यतनापूर्वक सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए।[2] यह सूक्ष्म श्वास स्थूल श्वास-निरोध या कुभक की कोटि मे आ जाता है।

पार्श्वनाथ चरित्र मे ध्यानमुद्रा का स्वरूप प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—पर्यक-आसन, मन, वचन और शरीर के व्यापार का निरोध, नासाग्रदृष्टि और मन्द श्वास-प्रश्वास।[3] सोमदेव सूरी ने लिखा है—वायु को मन्द-मन्द लेना चाहिए और मन्द-मन्द छोडना चाहिए।[4]

श्वास-विजय या श्वास-नियन्त्रण के विना ध्यान नही हो सकता—यह सचाई सर्वात्मना स्वीकृत रही है। वृहद् नयचक्र मे योगी का पहला विशेपण श्वासविजेता है।[5]

सोमदेव सूरी ने भी 'मरुतो नियम्य'—इस वाक्य मे श्वास-नियत्रण का निर्देश किया है।[6]

---

१. व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा १२३, मलयगिरि वृत्ति पत्र ४२
न खलु कायोत्सर्गे सूक्ष्मोच्छ्वासादयो निरुध्यते, तन्निरोधम्य कर्तुमशक्यत्वात् वर्तते।

२. कयोत्सर्ग शतक, गाथा ५६
उस्सास न निरुभई, आभिग्गहिओवि किमु अ चिट्ठाउ ?
सज्जमरण निरोहे, सुहुमुस्सास तु जयणाए॥

३ पासनाहचरिअ, पृ. ३०४
पलिय-क वधेउ, निरुद्धमणवयणकायवावारो।
नासग्गनिमियनयणो, मदीकयसासनीसासो॥

४ यशस्तिलकचम्पू, कल्प ३९, श्लोक ७१६
मन्द-मन्द क्षिपेद् वायु, मन्द-मन्द विनिक्षिपेत्।
न क्वचिद् वार्यते वायुर्न च शीघ्र प्रमुच्यते॥

५ वृहद् नयचक्र, श्लोक ३८८
णिज्जियसासो णिप्फदलोयणो मुक्कसयलवावारो।
जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि सदेहो॥

६ यशस्तिलकचपू, कल्प ३९, श्लोक ६११।

श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करने का कितना महत्त्व है, यह कायोत्सर्ग की विधि से जाना जा सकता है।

कायोत्सर्ग	श्वास-प्रश्वास परिमाण
सायकालीन	सौ
प्रात कालीन	पचास
पाक्षिक	तीन सौ
चातुर्मासिक	पाच सौ
वार्षिक	एक हजार आठ
चेप्टा	पचीस
अध्ययनकालीन (उद्देस, समुद्देस)	सत्ताईस
अध्ययनकालीन (अनुज्ञा, प्रस्थापना)	आठ
प्रायश्चित्त	सौ
नदी-सतरण	पचीस[1]

श्वास-प्रश्वास का कालमान (या लम्वाई) श्लोक के एक चरण के समान निर्दिप्ट है। एक चरण के चिन्तन मे जितना समय लगता है उतना श्वास-प्रश्वास का काल होता है।[2]

भद्रवाहु स्वामी ने 'महाप्राण' ध्यान की साधना की थी। उसमे दीर्घकालीन कायोत्सर्ग और श्वास की अत्यन्त सूक्ष्मता, आन्तरिक श्वास के निरोध की स्थिति होती है। इसीलिए इसे सूक्ष्म ध्यान कहा जाता है। ध्यान-सवर योग भी यही है। आचार्य पुष्पभूति के शिष्य पुष्पमित्र थे। आचार्य ने पुष्पमित्र को अपना सहायक नियुक्त कर सूक्ष्म ध्यान मे प्रवेश किया। उस सूक्ष्म ध्यान को 'महाप्राण ध्यान' के समान कहा गया है। उसमे न चेतना-मन होती है, न चलन और न स्पन्दन। सूक्ष्म ध्यान की साधना मे श्वास के निरोध की स्थिति भी मान्य रही है, किन्तु सामान्य ध्यान की स्थिति मे श्वास को सूक्ष्म करना ही मान्य रहा है। श्वास को

१ कायोत्सर्ग शतक, गाथा ५८ से ६६।

२ व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा १२२ ·
पायसमाउसासा कालपमाणेण होति नायव्वा।
मलयगिरि वृत्ति पत्र ४१/४२ ·
यावत् कालेनैकश्लोकस्य पादश्चिंत्यते तावत् कालप्रमाण कायोत्सर्गे उच्छ्वास इति।

तेज करना मान्य नही रहा है। ध्यान की दृष्टि से उसकी उपयोगिता नहीं है। अहिसा की दृष्टि से यह निर्देश प्राप्त है कि तेज श्वास में जीव-हिंसा होती है, इसलिए भस्त्रिका जैसे तीव्र श्वास वाले प्राणायाम नहीं करने चाहिए।

श्वास को सूक्ष्म, मन्द, विजित और नियन्त्रित करने के सूत्र उपलब्ध है, किन्तु श्वास-प्रेक्षा की अभ्यास-विधि प्रत्यक्ष रूप मे उपलब्ध नहीं है। उसे आनापान स्मृति तथा श्वास-दर्शन की अभ्यास-पद्धतियों के आधार पर विकसित किया गया है। भाव-क्रिया के रूप मे उसका सूत्र उपलब्ध था, किन्तु अभ्यास परम्परा के प्राप्त न होने के कारण, वह पकड़ा नहीं जा सका। श्वास के विषय मे भाव-क्रिया का अर्थ होगा कि हम श्वास लेते समय 'श्वास ले रहे है'—इसी का अनुभव करे, वही स्मृति रहे, मन किसी अन्य प्रवृत्तियो मे न जाए, वह श्वासमय हो जाए, उसके लिए समर्पित हो जाए, श्वास की भाव-क्रिया ही श्वासप्रेक्षा है। यह नासाग्र पर की जा सकती है, श्वास के पूरे गमनागमन पर भी की जा सकती है। श्वास के विभिन्न आयामो और विभिन्न रूपो को देखा जा सकता है।

२. कायोत्सर्ग

शरीर की चचलता, वाणी का प्रयोग और मन की क्रिया—इन सबको एक शब्द मे योग कहा जाता है। ध्यान का अर्थ है—योग का निरोध। प्रवृत्तिया तीन है और तीनो का निरोध करना है। फलत ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते है—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह कायिक ध्यान ही कायोत्सर्ग है। इसे कायगुप्ति, काय-सवर, काय-विवेक, काय-व्युत्सर्ग और काय प्रतिसलीनता भी कहा जाता है।

कायोत्सर्ग मानसिक एकाग्रता की पहली शर्त है। यह अनेक प्रयोजनो से किया जाता है, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सतुलन रखने के लिए जो किया जाता है, उसे 'चेष्टा कायोत्सर्ग' कहते है। प्राप्त कष्टो को सहने तथा कष्टजनित भय को निरस्त करने के लिए 'अभिभव कायोत्सर्ग' किया जाता है।[1] क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन भी उसका एक प्रयोजन है।[2] वह स्वय प्रायश्चित्त है। अमगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिए भी

१ कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३ ५।

२ कायोत्सर्ग शतक, गाथा ८।

उसका उपयोग किया जाता है। यात्रा के समय या अन्य किसी कार्यारम्भ के समय कोई अपशकुन या वाधा उपस्थित हो जाए तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर, नमस्कार महामत्र का चिन्तन करना चाहिए। दूसरी वार भी वाधा उपस्थित हो तो सोलह श्वास-प्रश्वास कायोत्सर्ग कर, दो वार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि तीसरी वार भी वाधा उपस्थित हो तो वत्तीस श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार वार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। चौथी वार भी वाधा उपस्थित हो तो विघ्न को अवश्यभावी मानकर यात्रा का कार्यारम्भ नही करना चाहिए।[1]

कायोत्सर्ग की अनेक उपलब्धिया है ·

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषो के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट हो जाती है।
२ परमलावव—शरीर वहुत हल्का हो जाता है।
३ मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जडता नष्ट हो जाती है।
४. सुख-दु ख तितिक्षा—सुख-दु ख को सहने की क्षमता वढती है।
५. सुख-दु ख मध्यस्थता—सुख-दु ख के प्रति तटस्थ रहने का मनोभाव वढता है।
६. अनुप्रेक्षा —अनुचिन्तन के लिए स्थिरता प्राप्त होती है।
७. मन की एकाग्रता सधती है।[2]

---

१ व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा, ११८, ११६
सव्वेसु खलियादिसु, झाएज्जा पच मगल।
दो सिलोगे व चितेज्जा एगग्गो वावि तक्खण॥
विइय पुण खलियादिसु, उस्सासा होति तह य सोलस य।
तइयम्मि उ वत्तीसा, चउत्थम्मि न गच्छए अण्ण॥

२ (क) कायोत्सर्ग शतक, गाथा १३ ·
देहमडजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झाइय य सुह झाण, एगग्गो काउसग्गम्मि॥
(ख) व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा १२५
मणसो एगग्गत्त जणयई, देहस्स हणई जड्डत्त।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव॥
(ग) वही, वृत्ति प्रयत्नविशेपत परमलाघवसभवात्॥

३. शरीर-प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का वहुत महत्त्व है। यह आत्मा का केन्द्र है। इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम वनाया जा सकता है। इसीलिए गौतम ने केशी से कहा था—यह शरीर नौका है। जीव नाविक है और ससार समुद्र है।[1] इस नौका के द्वारा संसार का पार पाया जा सकता है। शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति वहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर के तीन भाग है :

१. अधोभाग—आंख का गढा, गले का गढा, मुख के वीच के भाग।

२ ऊर्ध्वभाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।

३ तिर्यग् भाग—समतल भाग।

शरीर के अधोभाग मे स्रोत है, ऊर्ध्वभाग मे स्रोत है और मध्य भाग मे स्रोत—नाभि है।

साधक चक्षु को सयत कर शरीर की विपश्यना करे। उसकी विपश्यना करने वाला उसके अधोभाग को जान लेता है, उसके ऊर्ध्व भाग को जान लेता है और उसके मध्य भाग को जान लेता है।[2]

जो साधक वर्तमान क्षण मे शरीर मे घटित होने वाली सुखः-दुख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेपण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

शरीर-दर्शन की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम-साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर है। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओ और सवेदनो को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर मे प्रवाहित होने वाली चैतन्य की

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २३/७३

सरीर माहु नावत्ति, जीवो वुच्वई नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, ज तरंति महेसिणो॥

२ आयारो, २/१२५

आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढ भाग जाणइ, तिरियं भाग जाणइ।

धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे वढता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुख-रूप होता है और कोई क्षण दुःख-रूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नही करता और दुःखात्मक क्षण के प्रति द्वेप नही करता। वह केवल देखता और जानता है।[1]

शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर से भीतर पहुचकर शरीर-धातुओ को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो (अन्तरों) को भी देखता है।[2]

देखने का प्रयोग वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व तभी अनुभूत होता है, जव मन की स्थिरता, दृढ़ता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए। शरीर के प्रकम्पनो को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकम्पनो को देखना, मन को वाहर से भीतर मे ले जाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य जागृत होता है। शरीर का जितना आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है, उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण मे चैतन्य व्याप्त है। इसीलिए शरीर के प्रत्येक कण मे सवेदन होता है। उस सवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर मे होने वाले सवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।[3]

१ आयारो, ५/२१
जे इमस्स विग्गहस्स अय खणेत्ति मन्नेसी।
वृत्ति पत्र १८५ वाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रह - —औदारिक शरीर, तस्य अय वर्तमानिकक्षण एवभूत सुखदु खान्यतरूपश्च गत एव-भूतश्च भावीत्येव य- क्षणान्वेपणशील सोऽन्वेषी सदाऽप्रमत्त- स्यादिति।

२ आयारो, २/१३०
अतो अतो देहतराणि पासति पुढोवि सवताइ।

३ वृहद् नयचक्र, ३८५, ३८६
आदा तणुप्पमाणो णाण खलु होई तप्पमाण तु।
त सवेयणरूव तेण हु अणुहवई तत्थेवा॥
पस्सदि तेण सरूव जाणइ तेणेव अप्पसब्भाव।
अणुहवइ तेण रूव अप्पा णाणप्पमाणादो॥

४. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'खण जाणाहि पडिए ।' साधक तुम क्षण को जानो।[१] अतीत के सस्कारो की स्मृति से भविष्य की कल्पनाए और वासनाएं होती है। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनो से वच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेषयुक्त चित्त का निर्माण करती है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से वच जाता है। यह राग-द्वेषशून्य वर्तमान क्षण ही सवर है। राग-द्वेषशून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत मे अर्जित कर्म-सस्कार के बध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण मे जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का सवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना को छोडने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।[२]

भगवान् महावीर ने कहा—'इस क्षण को जानो।'[३] वर्तमान को जानना और वर्तमान मे जीना ही भाव-क्रिया है। यात्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक मे उडान भरना द्रव्य क्रिया है। वह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भाव-क्रिया स्वय साधना और स्वय ध्यान है। हम चलते है और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, 'हम चल रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भावक्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचो इन्द्रियो के विषयो पर मन को केन्द्रित न करे। आखो से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानो से टकराते है, गध के परमाणु आते है, ठडी या गरम हवा शरीर को छूती है—इन सवके साथ मन को न जोडे। रस की स्मृति न करे।

---

१ आयारो, २/२४ ।

२ आयारो, ३/६०
णातीतमट्ठ ण य आगमिस्स, अट्ठ नियच्छंति तहागया उ।
विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥

३ सूयगडो १/२/७३
इणमेव खण वियणाणि आ।

साधक चलते समय पांचों प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिन्तन करे और न धर्म-चर्चा करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे। किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने मे ही केन्द्रित रहे, चेतना गति का पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।[1]

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भाव क्रिया बन जाती है, जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमे व्याप्त होती है।[2]

भाव-क्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए, इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हो, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय मे न जाए, इस स्थिति मे क्रिया भाव-क्रिया बनती है।[3]

५. समता

आत्मा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है इसलिए वह परोक्ष है। चैतन्य उसका गुण है ? उसका कार्य है—जानना और देखना। मन और शरीर के माध्यम से जानने और देखने की क्रिया होती है, इसलिए चैतन्य हमारे प्रत्यक्ष है। हम जानते है, देखते है, तब चैतन्य की क्रिया होती है। समग्र साधना का यही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करे। केवल जाने और केवल देखे। इस स्थिति मे अबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है, किन्तु मोह के द्वारा हमारा दर्शन निरुद्ध और ज्ञान आवृत रहता है, इसलिए हम केवल जानने और केवल देखने की स्थिति मे नही रहते। हम प्राय सवेदन की स्थिति मे होते है। केवल जानना ज्ञान है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २४/८
इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झाय चेव पचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरिय रिए॥

२ कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३७
मणसहिएण उकायण, कुणड वायाइ भासई ज च।
एव च भावकरण, मणरहिअ दव्वकरण तु॥

३ अणुओगद्दाराइ, सूत्र २७
तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए अण्णत्थ कत्थई मण अकरेमाणे।

प्रियता और अप्रियता के भाव से जानना संवेदन है। हम पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से नही देख पाते। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। वह केवल जानने और देखने से सिद्ध होती है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है। जिसे समता प्राप्त होती है, वही ज्ञानी होता है। जो ज्ञानी होता है, उसी को समता प्राप्त होती है। ज्ञानी और साम्ययोगी—दोनों एकार्थक होते हैं।

हम इन्द्रियो के द्वारा देखते है, सुनते है, सूघते है, चखते है, स्पर्श का अनुभव करते है तथा मन के द्वारा सकल्प-विकल्प या विचार करते है। प्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव राग उत्पन्न करते है और अप्रिय लगने वाले इन्द्रियविषय और मनोभाव द्वेष उत्पन्न करते है। जो प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयो और मनोभावो के प्रति सम होता है, उसके अन्त.करण मे वे प्रियता और अप्रियता का भाव उत्पन्न नही करते। प्रिय और अप्रिय तथा राग और द्वेप से परे वही हो सकता है, जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है। जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है, वही वीतराग होता है।

जैसे-जैसे हमारा जानने और देखने का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे इन्द्रिय-विषय और मनोभाव, प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करना बन्द कर देते है। फलत राग ओर द्वेप शान्त और क्षीण होने लगते है। हमारी जानने और देखने की शक्ति अधिक प्रस्फुट हो जाती है। मन मे कोई सकल्प उठे, उसे हम देखे। विचार का प्रवाह चल रहा हो उसे हम देखे। इसे देखने का अर्थ होता है कि हम अपने अस्तित्व को सकल्प से भिन्न देख लेते है। संकल्प दृश्य है और 'मै द्रष्टा हूं'—इस भेद का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जब सकल्प के प्रवाह को देखते जाते है, तब धीमे-धीमे उसका प्रवाह रुक जाता है। सकल्प के प्रवाह को देखते-देखते हमारी दर्शन की शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरो के सकल्प-प्रवाह को भी देखने लग जाते है।

हमारी आत्मा मे अखण्ड चैतन्य है। उसमें जानने-देखने की असीम शक्ति है, फिर भी हम बहुत सीमित जानते-देखते है। इसका कारण यह है कि हमारा ज्ञान आवृत है, हमारा दर्शन आवृत है। इस आवरण की सृष्टि मोह ने की है। मोह को राग और द्वेष का पोषण मिल रहा है—प्रियता

और अप्रियता के मनोभाव से। यदि हम जानने-देखने की शक्ति का विकास चाहते है तो हमे सवसे पहले प्रियता और अप्रियता के मनोभावो को छोड़ना होगा। उन्हे छोडने का जानने और देखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नही है। हमारे भीतर जानने और देखने की जो शक्ति बची हुई है, हमारा चैतन्य जितना अनावृत है उसका हम उपयोग करे। केवल जानने और देखने का जितना अभ्यास कर सके, करे। इससे प्रियता और अप्रियता के मनोभाव पर चोट होगी। उससे राग-द्वेष का चक्रव्यूह टूटेगा। उससे मोह की पकड़ कम होगी। फलस्वरूप ज्ञान और दर्शन का आवरण क्षीण होने लगेगा। इसलिए वीतराग-साधना का आधार जानना और देखना ही हो सकता है।[१] इसीलिए इस सूत्र की रचना हुई है कि समूचे ज्ञान का सार सामायिक है– समता है।

६. संयम–संकल्प-शक्ति का विकास

हमारे भीतर शक्ति का अनन्त कोप है। उस शक्ति का वहुत वडा भाग ढका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता मे है और कुछ भाग उपयोग मे आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हो तो सत्ता मे रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते है।

शक्ति का जागरण सयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मांगे होती है। हम उन मांगो को पूरा करते चले जाते है। फलतः हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है–मन की माग का अस्वीकार। मन की माग के अस्वीकार का अर्थ है–सकल्प-शक्ति का विकास। यही सयम है। जिसका निश्चय (संकल्प या संयम) दृढ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही होता।[२]

१. उत्तरज्झयणाणि ३२/१०६-१०८
विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा, निव्वत्तयन्ती अमणुन्नय वा॥
एव ससंकप्पविकप्पणासु, सजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य सकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥
स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेई नाणावरण खणेण।
तहेव ज दसणमावरेइ, ज चऽन्तराय पकरेई कम्म।

२ नायाधम्मकहाओ, १/११३
निच्छियववसियस्स एत्थ कि दुक्कर करणयाए।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय मे परिवर्तन ला देते है। किन्तु मन का सकल्प उन सबसे वडा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है, उतना अन्य निमित्तो से नही हो सकता। जो अपने निश्चय मे एकनिष्ठ होते है वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते है। गौतम ने पूछा—'भन्ते ! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?' भगवान् ने कहा—'सयम से जीव आस्रव का निरोध करता है।[1] सयम का फल अनाश्रव है। जिसमें सयम की शक्ति विकसित हो जाती है, उसमे विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। सयमी मनुष्य वाहरी प्रभावो से प्रभावित नही होता। दशवैकालिक मे कहा है—'काले काल समायरे'—सव काम ठीक समय पर करो। सूत्रकृतांग मे कहा है—'खाने के समय खाओ, सोने के समय सोवो। सव काम निश्चित समय पर करो। यदि आप नौ वजे ध्यान करते है और प्रतिदिन उस समय ध्यान ही करते है, मन की किसी अन्य माग को स्वीकार नही करते तो आपकी सयमशक्ति प्रवल हो जाएगी।

सयम एक प्रकार का कुभक है। कुभक मे जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही सयम मे इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, वीमारी, गाली, मारपीट—इन सव घटनाओ को सहन करो। यह उपदेश नही है। यह सयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है, तव मन की माग होती है कि गर्म कपडो का उपयोग किया जाए या सिगडी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है, तव मन ठडे द्रव्यो की माग करता है। सयम का प्रयोग करने वाला उस माग की उपेक्षा करता है। मन की माग को जान लेता है, देख लेता है, पर उसे पूरा नही करता। ऐसा करते-करते मन माग करना छोड देता है, फिर जो घटना घटती है, वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा सयम है, उपेक्षा सयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखे, अपने आप सयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की माग आपको विचलित नही करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन वचन और शरीर का सयम अपने आप सध जाता है।

सयम-शक्ति का विकास इस प्रक्रिया से किया जा सकता है—जो करना है या जो छोडना है, उसकी धारणा करो—उस पर मन को पूरी

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २९ सूत्र २६।

एकाग्रता के साथ केन्द्रित करो। निश्चय की भाषा मे उसे बोलकर दोहराओ, फिर उच्चारण को मद करते हुए उसे मानसिक स्तर पर ले आओ। उसके वाद ज्ञान-ततुओ और कर्मशील ज्ञान-तन्तुओ को कार्य करने का निर्देश दो। फिर ध्यानस्थ और तन्मय हो जाओ। इस प्रक्रिया के द्वारा हम शक्ति के उस स्रोत को उद्‌घाटित करने मे सफल हो जाते है, जहा सहने की क्षमता स्वाभाविक होती है।

७-८. अनुप्रेक्षा और भावना

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोडने वाले विषयो का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विपय का अनुचिन्तन वार-वार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का वार-वार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।[1]

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओ का अभ्यास आवश्यक है—

१. **ज्ञान भावना**—राग-द्वेप और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।
२ **दर्शन भावना**—राग-द्वेप और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास।
३. **चारित्र भावना**—राग-द्वेप और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।
४ **वैराग्य भावना**—अनासक्ति, अनाकाक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुप्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है। उसी रूप मे उसका सस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा

---

१ पासनाहचरिअ, पृ. ४६० ·
भाविज्जइ वासिज्जइ, जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए।
सा भावण त्ति वुच्चइ, नाणाइगोयरा वहुहा॥

मे स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है।[1] अर्हम्' की भावना करने वाले मे 'अर्हत्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओ से भावित होते है। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।[2]

भगवान् महावीर ने भावना को नौका के समान कहा है। नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दुःख के पार पहुचा देती है।[3]

प्रतिपक्ष की भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह कर्म के विपाक पर प्रतिपक्ष भावना का निश्चित परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और संतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का सस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है और वह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोड़ी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चित परिणाम होता है।

साधनाकाल मे ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा मे जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है। ध्यान शतक मे बताया गया है कि ध्यान को समाप्त कर अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओ का अभ्यास करना चाहिए।[4] ध्यान मे होने वाले

---

१ समाधितत्र, श्लोक २८ ·
सोहमित्यात्त सस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन ।
तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥

२ पासनाहचरिअ, पृ. ४३०
जो जेण चित्र कुसलेणा, कम्मुण केणइ ह नियमेण।
भाविज्जइ सा तस्सेव, भावना धम्मसजणणी॥

३ सूयगडो, १५/५
भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टति॥

४ ध्यानशतक, श्लोक ६५
झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाईचितणोवरमो।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्वि॥

विविध अनुभवो में चित्त का कही लगाव न हो—इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का वहुत महत्त्व है। धर्म्यध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओ का अभ्यास किया जाता है [1]

१. एकत्व अनुप्रेक्षा
२. अनित्य अनुप्रेक्षा
३. अशरण अनुप्रेक्षा
४ ससार अनुप्रेक्षा।

एकत्व अनुप्रेक्षा

आत्मा एक है और अनन्त है। ये दोनो सत्य स्वीकृत है। प्रत्येक आत्मा अपने आप मे अखण्ड और परिपूर्ण है। इस दृष्टि से आत्मा एक है। अपनी आत्मा से भिन्न अनन्त आत्माओ का अस्तित्व है, इसलिए आत्माए अनन्त है। प्रत्येक व्यक्ति अनन्त आत्माओ के मध्य जीता है, समुदाय के मध्य जीता है। यह सामुदायिक जीवन की अनुभूति ही राग और द्वेष उत्पन्न करती है। इसमे कोई सन्देह नही कि व्यक्ति विभिन्न प्रभावो से सक्रान्त होता है और उन प्रभावो से वह बच भी नही सकता और वह इसलिए नही वच सकता कि उन प्रभावो को सक्रियता से ग्रहण करता है। उनसे बचने का एक ही उपाय है और वह है अक्रियता की अवस्था का निर्माण। ध्यान से अक्रियता की अवस्था का निर्माण होता है। समुदाय मे रहते हुए अकेलेपन का अनुभव करने से भी इस अवस्था का निर्माण होता है। 'मै अकेला हू, शेष सब सयोग है।' सयोगो को अपना अस्तित्व मानना सक्रियता है। उन्हे अपने-अपने अस्तित्व से भिन्न देखना, अनुभव करना अक्रियता है। इस एकत्व अनुप्रेक्षा के लम्बे (छह मास के) अभ्यास से बाह्य पदार्थो के प्रति होने वाली अपनत्व की मूर्च्छा को तोडा जा सकता है। यह विवेक या भेदज्ञान का प्रयोग है।

अनित्य अनुप्रेक्षा

शरीर के यथाभूत स्वभाव और उसकी क्रियाओ का निरीक्षण करने

---

१ ठाण, ४/६८।

वाला उसके भीतर होने वाले विभिन्न स्रावो को देखने लग जाता है।[1]

शरीर-दर्शन के अभ्यास से शरीर मे घटित होने वाली अवस्थाएं स्पष्ट होने लग जाती है। भगवान् महावीर ने कहा—'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाए होती है।'[2] शरीर की अनित्यता के अनुचिन्तन से शरीर के प्रति होने वाली गहन आसक्ति से मुक्ति पायी जा सकती है। शरीर की आसक्ति ही सव आसक्तियो का मूल है। उसके टूट जाने पर अन्य पदार्थो मे होने वाली आसक्तिया अपने आप टूटने लग जाती है।

अशरण अनुप्रेक्षा

जो अपने अस्तित्व को नही जानता, वह कही भी सुरक्षित नही हो सकता। धन, पदार्थ और परिवार—ये सव अस्तित्व से भिन्न है। जो भिन्न है, वह कभी भी त्राण नही दे सकता।[3]

भगवान् महावीर ने कहा—अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है। अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व मे है। स्वय की शरण मे आना ही अशरण अनुप्रेक्षा का मूल मर्म है।

संसार अनुप्रेक्षा

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नही है। जिसका अस्तित्व है, जो ध्रुव है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है। यह उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहता है।

१ आयारो, २/१३०
अतो अतो देहतराणि पासति पुढोवि सवताइ।

२ आयारो, ५/२६
से पुव्व पेय पच्छा पेय भेउरधम्म, विद्धसणधम्म, अधुव अणितिय, असासय, चयावचइय, विपरिणामधम्म, पासह एय रूव।

३ आयारो, २/८
नाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुम पि तेसि नाल ताणाए वा, सारणाए वा।

इसी क्रम का नाम ससार है। परमाणु-स्कध परिवर्तित होते रहते है। एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था मे चले जाते है। जीव भी वदलते रहते है। वे कभी जन्म लेते है और कभी मरते है। वे कभी मनुष्य होते है और कभी पशु। एक जीवन मे भी अनेक अवस्थाए होती है। इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिन्तन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग है—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप मे हमे उपलब्ध नही है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत्त है। उस पर एक परदा पडा हुआ है। उसे दर्शनावरण और ज्ञानावरण कहा जाता है। वह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नही है और केवल देखते नही है। जानने-देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग या द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेप मोह को उत्पन्न करते है। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। उस चक्र को तोडने का एक ही उपाय है और वह है ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा मे चला जाता है। कुछ लोग मूर्च्छा को तोडने मे स्वय जागृत हो जाते है। जो स्वय जागृत नही होते उन्हे श्रद्धा के बल पर जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान् महावीर ने कहा—'हे अद्रष्टा ! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है, इसलिए तुम सत्य को नही देख पा रहे हो। तुम सत्य को नही देख पा रहे हो, इसलिए तुम उस पर श्रद्धा करो, जो द्रष्टा द्वारा तुम्हे वताया जा रहा है।'[1] अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है—अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण।

---

१ सूयगडो, १/२/६५
अदक्खुव ! दक्खुवाहिय, सद्दहसू अदक्खुदसणा !
हंदि हु सुणिरुद्धदसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा॥

६. एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूक भाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद वढता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता वढती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूक भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उपयोग—केवल जानना और देखना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जव ये लबे समय तक निरन्तर चले। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए, चित्त उस क्रिया मे प्रगाढ और निष्प्रकम्प हो जाए। अनुवस्थित, अव्यक्त और मृदुचित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नही कर सकता।[१] पचास मिनट तक एक आलबन पर चित्त की प्रगाढ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए।[२] यह सफलता का बहुत बडा रहस्य है। इस अवधि के वाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लबे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप मे पकडकर उसे और प्रलब बना देता है।

---

१ कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३४
गाढालवणलग्ग, चित्त वुत्त निरेअण झाण।
सेस न होई झाण, मउअमवत्त भमत च॥

२ ध्यानशतक, गाथा 3
अतोमुहुत्तमेत्त चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।

३

अभ्यासक्रम

: १ :

अभ्यास का परिपूर्ण क्रम

प्रथम भूमिका

कायोत्सर्ग

प्रथम आरोह	सुप्त कायोत्सर्ग
द्वितीय आरोह	स्थित कायोत्सर्ग
तृतीय आरोह	उत्थित कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया

१. पहले खिचाव, फिर शिथिलीकरण।

२ सिर से पैर तक शिथिलता का संकल्प।

३. चितन और ममत्व का विजर्सन।

४. प्राण का दीर्घीकरण व सूक्ष्मीकरण।

कायोत्सर्ग मे शारीरिक वृत्तियो के शिथिल होने पर भेदज्ञान का अनुभव—शरीर से आत्मा को पृथक् अनुभव करना चाहिए।

द्वितीय भूमिका

जप

प्रथम आरोह	वाचिक जप	दीर्घोच्चारण
द्वितीय आरोह	उपाशु जप	सूक्ष्मोच्चारण
तृतीय आरोह	मानसिक जप	अनुच्चारण

तृतीय भूमिका

प्राणायाम

प्रथम आरोह—एक सप्ताह तक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
द्वितीय आरोह—द्वितीय सप्ताह सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
तृतीय आरोह—तृतीय सप्ताह मूलवन्ध सहित सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
चतुर्थ आरोह—चतुर्थ सप्ताह समूलवन्ध कुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
पचम आरोह—पचम सप्ताह केवल कुम्भक।

चतुर्थ भूमिका

भावना

प्रथम आरोह —मैत्री भावना का चितन और अभ्यास।
द्वितीय आरोह—प्रमोद भावना का चितन और अभ्यास।
तृतीय आरोह—कारुण्य भावना का चितन और अभ्यास।
चतुर्थ आरोह—माध्यस्थ भावना का चिंतन और अभ्यास।

पंचम भूमिका

ध्यान

प्रथम आरोह—पिण्डस्थ ध्यान।
द्वितीय आरोह—पदस्थ ध्यान।
तृतीय आरोह—रूपस्थ ध्यान।
चतुर्थ आरोह—रूपातीत ध्यान।

इस समूचे क्रम को ८० मिनट मे सम्पन्न किया जा सकता है। प्रारम्भ मे एक-एक भूमिका का ही अभ्यास करना चाहिए। सब भूमिकाओ का स्थिर अभ्यास हो जाने पर सबका एक साथ प्रयोग किया जा सकता है।

: २ :

चित्त लय का सहज अभ्यास

यदि आप आसन, प्राणायाम आदि की साधना मे ध्यान देना नही

चाहते है और लम्बी प्रक्रिया आपको जटिल प्रतीत होती है, आप सहज सरल ध्यान करने के पक्ष में हैं तो वह भी सम्भव हो सकता है। जिस किसी भी आसन मे बैठकर ध्यान कर सकते है। केवल इतना ही ध्यान रखना होगा कि शरीर सीधा रहे तथा रीढ की हड्डी सीधी रहे। फिर आप ध्यान की पद्धति को चुन ले, जो नीचे वतायी जा रही है

१. नथुनो से श्वास भरकर उसे मस्तिष्क मे ले जाइए। वहा कुछ समय के लिए उसे धारण कीजिए। सहज ही सकल्प-विकल्प विलीन हो जाएंगे। इससे धातु-क्षयजनित वीमारिया भी नष्ट होती हैं।

२ जीभ को तालु मे लगाकर वैठ जाइए। सहज ही मन शान्त हो जाएगा। किन्तु इसका अभ्यास ठडे समय मे ही किया जाना चाहिए।

३ एकान्त मे शिथिलीकरणपूर्वक लेटकर अपने दाये पैर के अगूठे पर दृप्टि स्थिर कीजिए। मन को वही एकाग्र कीजिए। यह चित्त लय का सहज उपाय है।

४. स्थिर और सीधे वैठकर, लेटकर या खडे होकर मन को दोनो नथुनो के नीचे ले जाइए। वहा श्वास जो भीतर जा रहा है और भीतर से वापस बाहर आ रहा है, उसे देखिए। श्वास के इस गम और निर्गम पर मन को लगाने से वह शान्त हो जाता है।

इनके अतिरिक्त चित्त लय की कुछ पद्धतियां ४/२६ की व्याख्या मे निर्दिष्ट है। उनमे से भी आप अपनी सुविधा के अनुसार चुनाव कर सकते है।

: ३ :

भेदज्ञान का अभ्यास

यदि मन को एकाग्र करना कठिन हो, ध्यान आपको सभव नही लग रहा हो तो आप सबसे पहले भेद-ज्ञान का अभ्यास कीजिए। आत्मा और शरीर का भेदज्ञान पुष्ट होने पर मन की चचलता सहज ही विलीन हो जाती है। आप स्थिर और शान्त होकर इस प्रकार की भावना कीजिए

कि शरीर मलिन है और इस शरीर मे विराजमान आत्मा निर्मल है। शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। जिस प्रकार पानी मे गिरा हुआ तेल पानी से पृथक् रहता है उसी प्रकार आत्मा शरीर मे रहती हुई शरीर से पृथक् रहती है। मथन के द्वारा दधि से घृत को अलग किया जा सकता है। वैसे ही शरीर से आत्मा को पृथक् किया जा सकता है। पुष्प और उसकी सुगन्ध, वृक्ष और उसकी छाया मे जो स्थूल और सूक्ष्म का सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध देह और आत्मा मे है—

साकार नश्वर सर्वमनाकार न दृश्यते।
पक्षद्वयविनिर्मुक्त कथ ध्यायन्ति योगिनः॥
अत्यन्तमलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मल ।
देहादेन पृथक् कृत्वा तस्मान्नित्य विचिन्तयेत्॥
तोयमध्ये यथा तैल पृथग्भावेन तिष्ठति।
तथा शरीरमध्येऽस्मिन् पुमानास्ते पृथक्तया॥
दध्न· सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरत· ।
पृथक् क्रियते तत्त्वज्ञैश्चिर ससर्गवानपि॥
पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले।
तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद् वा लपनबिम्बवत्॥

जो साधक कायोत्सर्ग मुद्रा मे देह का पूर्णतः शिथिलीकरण कर भेदज्ञान की भावना करता है, वह शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के स्वास्थ्य, अनासक्ति तथा मानसिक एकाग्रता को प्राप्त करता है।

: ४ :

ॐकार के ध्यान का अभ्यास

स्थिर और शान्त होकर बैठ जाइए। फिर नासिका के अग्र भाग पर 'ॐ' का ध्यान कीजिए। चित्त को भृकुटि के मध्य मे (आज्ञाचक्र पर) स्थापित कीजिए। यह ध्यान का सहज-सरल उपाय है। इससे आन्तरिक ज्ञान विकसित होता है, अन्तर्मन जागृत होता है।

४

मर्मस्थान

योग विद्या मे जिनकी सज्ञा चक्र है, प्रेक्षाध्यान मे जिनकी सज्ञा चैतन्य केन्द्र है, आधुनिक शरीरशास्त्र मे जिनकी सज्ञा अत-स्रावी ग्रन्थि है, वे सव मर्मस्थान है। उनमे चेतना सघन रूप मे रहती है।

	चक्र	चैतन्य-केन्द्र	ग्रन्थि-तंत्र	स्थान
१.	सहस्रार चक्र	ज्ञान केन्द्र, ज्योति केन्द्र	कोर्टेक्स पिनिअल ग्लैण्ड	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान) व मस्तिष्क का मध्य भाग
२.	आज्ञा-चक्र	दर्शन केन्द्र	पिच्यूटरी ग्लैण्ड	भृकुटियो के मध्य का भाग
३.	विशुद्धि चक्र	विशुद्धि केन्द्र	थाइराइड, पेराथाइराइड ग्लैण्ड	कण्ठ के मध्य का भाग
४	अनाहत चक्र	आनन्द केन्द्र	थाइमस ग्लैण्ड	हृदय के पास गड्ढे का स्थान
५.	मणिपुर चक्र	तैजस केन्द्र	एड्रेनल ग्लैण्ड	नाभि का स्थान
६.	स्वाधिष्ठान चक्र	स्वास्थ्य केन्द्र	गोनाड्स ग्लैण्ड	पेडू का स्थान
७.	मूलाधार चक्र	शक्ति केन्द्र	गोनाड्स ग्लैण्ड	पृष्ठ-रज्जु के नीचे का छोर

ओकल्ट साइन्स मे इनका निरूपण प्रकारान्तर से भी मिलता है—

१ सैक्रोकोक्सीजियल प्लैक्सस (The Sacrococcygeal Plexus) मूला धार चक्र।

२. सैक्रल प्लैक्सस (The Sacral Plexus) . स्वाधिष्ठान चक्र।

३. सोलर प्लैक्सस (The Solar Plexus) मणिपुर चक्र (वाम भाग)।

४ सैरेब्रो-स्पाइनल प्लैक्सस (The Serebro-Spinal Plexus) . मणिपुर चक्र (दक्षिण भाग)।

ये दोनो क्रमश इडा और पिगला नामक नाडियो के सचालक है। इडा केन्द्रीय सुषुम्ना के बायीं ओर है तथा पिगला दायी ओर।

५ लम्बर प्लैक्सस (The Lumbar Plexus) . अनाहत चक्र।

६. लैरिञ्जियल प्लैक्सस (The Laryngeal Plexus) : विशुद्धि चक्र।

७ सैरेबलम प्लैक्सस (The Cerabellum Plexus) · आज्ञा चक्र। इनकी दो पखुडिया है।

८. सैसोरियम (Sensorium) · मानस चक्र। इसकी छह पखुडिया है।

९ मिडिल सैरेब्रम (Middle Cerebrum) : सोम चक्र।

१० अपर सैरेब्रम Upper Cerebrum) सहस्रार चक्र।

११ साधना की दृष्टि से तीन नाडिया मुख्य है :

१ इडा

२ पिगला

३ सुषुम्ना।

इनका मूल मूलाधार चक्र है। सुषुम्ना नाडी मेरुदण्ड के मध्य मे है। वह मूलाधार से सहस्रार चक्र तक फैली हुई है। वह चैतन्य का शक्ति केन्द्र है। उसके दोनो ओर इडा और पिगला है। इडा बाये अण्डकोश से और पिगला दाये अण्डकोश से प्रारम्भ होती है। स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्धि चक्र मे इनका सगम होता है। पिगला विशुद्धि चक्र से ऊपर उठकर भ्रूमध्य को वेष्टित करती हुई दायी नासिका तक चली जाती है। आज्ञाचक्र पर सुषुम्ना, इड़ा और पिगला का सगम होता है।

वीर-वन्दन

विधि

१ दोनो पैरो को सटाकर, सीधा खडा होकर, पेट को अन्दर खीचकर और छाती को फुलाकर, दोनो हाथ जोडकर प्रणाम की स्थिति मे रहे।

२ दोनो हाथो को सिर से सटाकर ऊपर उठाए और कुछ पीछे की ओर ले जाएं। सास को अन्दर रोककर रखे।

३. दोनो हाथो को सिर के साथ छोडते हुए पैरो के वगल मे हथेलियो को जमीन पर रखे। घुटने सीधे रखकर मस्तक को घुटनो से लगाए।

४. वाये पैर को पीछे सीधा करे, दाहिने पैर को मोडते हुए ऊपर की ओर देखे और सांस को रोककर रखे—कुभक करे।

५. दाहिने पैर को भी पीछे की ओर लेकर नाभि की ओर देखे।

६ समूचे शरीर को पेट और छाती के वल जमीन पर रखे।

७. दोनो हाथो को जमीन पर हथेलियो के वल रखकर छाती को ऊपर उठाते हुए ऊपर की ओर देखे। सास को अन्दर रोककर रखे (भुजगासन की मुद्रा)।

८ दोनो हाथो तथा पैरो को जमीन पर रखकर सास छोड़ते हुए नाभि को देखे (पांचवी स्थिति की तरह)।

६. बाये पैर को हाथ के निकट ले जाकर छाती को ऊपर उठाए और ऊपर की ओर देखे (चौथी स्थिति की तरह)।

१०. दोनो पैरो को दोनो हाथो के निकट ले जाकर बैठकर उठते हुए घुटनो मे सिर लगाकर रखे।

११ दोनो हाथो को सिर के साथ ऊपर ले जाए (दूसरी स्थिति की तरह)।

१२ प्रथम स्थिति की तरह प्रणाम करते हुए खडे हो जाए।

५

शब्दकोश

सामान्य शब्द

अकषाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति का अभाव।
अगार—घर।
अतीन्द्रिय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाला ज्ञान—प्रत्यक्ष ज्ञान।
अनर्ह—अयोग्य।
अनलस—पुरुपार्थी।
अनिन्द्रिय—मन।
अनिवेशन—अस्थापन।
अनृत—असत्य।
अन्त.कुम्भक—श्वास को अन्दर खीचकर रोकना।
अन्यत्व—भिन्नता।
अपनयन—दूर करना।
अपरिहार्य—जिसे टाला न जा सके।
अपान—श्वास छोड़ना।
अपानायाम—अपानवायु को शुद्ध करने की प्रक्रिया।
अप्रमत्त—आत्माभिमुख।
अप्रमाद—आत्माभिमुखता।
अप्रशस्त—खराब, बुरा।
अयोग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध।
अवग्रह—रहने का स्थान।

अविरति—पदार्थ के प्रति आकांक्षा।
अविसंवादित्व—कथनी और करनी की एकरूपता।
अशन—भोजन।
अशरण—असहाय।
अशौच—अपवित्र।
आकिंचन्य—निर्ममत्व।
आत्मा—जीव।
आत्मौपम्य—आत्मतुल्य।
आदान—उठाना, ग्रहण करना।
आनापान—श्वास, पश्वास।
आर्जव—माया का निरोध।
आवरण—आच्छादन।
आशय—विचार।
आश्रव—कर्म-बन्धन का हेतु।
आहरण—भोजन करना।
आहित—स्थापित।
इन्द्रिय—प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाला।
उन्नयन—ऊपर ले जाना।
उपधि—वस्त्र-पात्र आदि उपकरण।
उपरोध—दूसरो के स्वत्व का हरण।
उपलब्धि—प्राप्ति।
उपवास—भोजन का त्याग करना।
उपशम—शान्ति।
उपसर्ग—उपद्रव।
उपाश्रय—धर्मस्थान।
ऊनोदरिका—खान-पान मे कमी करना।
ऊर्ध्वरेता—जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी हो।
ऊर्ध्वस्थान—खडे होकर किए जाने वाले आसन।
एकत्व—एकाकीपन।
एकाग्रसन्निवेशन—एक लक्ष्य मे स्थापन।

कपाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति।
कायोत्सर्ग—शारीरिक प्रवृत्ति का विसर्जन।
कारुण्य—दया।
किट्ट—मलमूत्र।
कुम्भक—श्वास का रेचन।
क्षमा—क्रोध का निग्रह।
क्षुत्—भूख।
गण—सघ।
गुप्ति—गोपन करना।
घ्राण—गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय।
चक्षु—रूपग्राहक इन्द्रिय।
चतुष्क—चौराहा।
चन्द्रनाडी—बाया स्वर।
चाप—दवाव।
चेतनावान—चैतन्यधर्मा।
जिनकल्प—साधना की एक विशेप पद्धति।
जिह्वाग्र—जीभ का अग्रभाग।
ज्ञान—विशेप या विश्लेषणात्मक वोध।
तप—संचित कर्मो के शोधन का पराक्रम।
तीर्थकर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थो के स्थापक।
त्याग—विसर्जन, सविभाग।
त्रैकालिक—भूत, भविष्य और पर्तमान—तीनो मे होने वाला।
त्वक्—त्वचा।
दर्शन—सामान्य बोध।
द्रव्य—पदार्थ।
धर्म—आत्मशुद्धि का साधन।
धारणा—ध्येय मे चित्त को सन्निविष्ट करना।
ध्याता—ध्यान का अधिकारी।
नाद—ध्वनि।

नासाग्र—नासिका का अग्रभाग।
निक्षेप—रखना।
निरभिष्वग—निर्लेप।
निरालम्बन—आलम्बन-रहित।
निरुद्ध—आत्मपरिणत।
निरोध—रोकना।
निर्जरा—आत्मा की उज्ज्वलता।
निर्विचार—विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत।
निवृत्ति—निवर्तन करना।
निषीदनस्थान—बैठकर किए जाने वाले आसन।
निस्सगत्व—निर्लेपता—अनासक्त भाव।
पड्क—कीचड।
पद—शब्द।
पदस्थध्यान—शब्द के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
परावर्तन—स्मरण।
परीषह—कष्ट।
पर्याय—समानार्थक।
पार्थिव—पृथ्वी से सम्बन्धित।
पार्ष्णि—एडी।
पिण्ड—शरीर।
पिण्डस्थ ध्यान—शरीर के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
पूरक—श्वास को अन्दर खीचना।
पृष्ठान्त—पीठ का अन्त्य भाग।
प्रणीतरस—अतिमात्र, गरिष्ठ।
प्रतिमा—कायोत्सर्ग की विशेष विधि।
प्रतिलेखन—देखना।
प्रतिसंलीनता—अन्तर्मुखता।
प्रमाद—आत्मविमुखता, विस्मृति।
प्रमार्जन—साफ करना।
प्रमोद—दूसरों के गुणो के प्रति प्रसन्नता का भाव।

प्रशस्त—अच्छा।

प्राण—जीवनी-शक्ति, श्वास।

जो श्वास-प्रश्वास लिया जाता है, वह स्थूल प्राण है और जिस शक्ति के द्वारा वह सचालित होता है, वह सूक्ष्म प्राण है।

प्राणायाम—श्वास का रेचन, पूरक और निरोध।

वन्ध—स्नायुओ का सकोचन।

वहि कुम्भक—श्वास का रेचन कर उसे वाहर रोकना।

वाह्य—आत्मा से अतिरिक्त।

वोधिदुर्लभता—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र की दुर्लभता।

व्रह्मचर्य—जननेन्द्रिय, इन्द्रिय समूह और मन की शान्ति।

व्रह्मरन्ध्र—सहस्रार चक्र।

भक्तपान—भोजन-पानी।

भव—ससार।

भस्म—राख।

भावना—विशिष्ट सस्कारो का आधान।

भेदज्ञान—आत्मा और शरीर की भिन्नता का वोध।

मध्यस्थता—उदासीनता, निष्पक्षता।

मन—मननात्मक वोध।

मनोनुशासन—मन का शिक्षण, अनुशासन।

मार्दव—किसी का अनादर न करना।

मित—परिमित।

मिथ्यादृष्टि—स्वरूप के प्रति अनास्था।

मुमुक्षु—मुक्त होने की इच्छा रखने वाला।

मूढ—मोह से परिव्याप्त।

मैत्री—आत्मीय भाव

मौन—वाणी का सवरण।

यातायात—कभी अन्तर्मुखी और कभी वहिर्मुखी होने वाला।

योग—समाधि, प्रवृत्ति।

रसन—रस-ग्राहक इन्द्रिय।

रूप—आकार, वर्ण।
रूपस्थ ध्यान—आकार के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
रूपातीत—निराकार।
रूपातीत ध्यान—निराकार के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
रेचक—श्वास को वाहर निकालना।
लब्धि—योगज विभूति, प्राप्ति।
लाघव—हल्कापन।
लिंग—चिह्न, जननेन्द्रिय।
लेश्या—पुद्गल द्रव्यो के निमित्त से होने वाला आत्मपरिणाम।
लोकसस्थान—लोक का आकार।
वस्ति—जननेन्द्रिय।
वाक्—वाणी।
विकरण—विकृति।
विकर्षण—दूर करना।
विक्षिप्त—चंचल।
विरति—पदार्थ की आकाक्षा का विसर्जन।
विविक्तवास—एकान्तवास।
वीतरागता—राग-द्वेप-विजेता।
वीर्य—शक्ति।
वैराग्य—विरक्ति।
व्याधि—रोग।
व्युत्सर्ग—शरीर, कषाय आदि का विसर्जन।
शयनस्थान—लेटकर किए जाने वाले आसन।
शिथिलीकरण—शरीर को ढीला छोड़ना।
शुक्र—वीर्य।
शौच—अलुब्धता।
श्रोत्र—शब्द-ग्राहक इन्द्रिय।
श्लिष्ट—स्थिर।
सतति—प्रवाह।
संधान—जुडना।

सयम—हिसा आदि अकरणीय कार्यो से विरत होना।

सरोहण—मिलना।

संवर—सवरण करना, कर्म-निरोध का हेतु।

सस्थान—आकृति।

सत्य—शरीर, वाणी और मन की ऋजुता।

सत्यपरत्व—सत्य-परायणता।

समिति—सयम के अनुकूल प्रवृत्ति।

सम्यग्दृष्टि—सत्यस्पर्शी दृष्टि।

सर्वार्थग्राही—इन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषयो को ग्रहण करने वाला।

साचिव्य—सान्निध्य।

सात्त्विक—सत्त्वगुणयुक्त।

सापेक्ष—अपेक्षा रखने वाला।

सालम्वन—आलम्बन सहित।

सुलीन—सुस्थिर।

सूर्यनाडी—दायां स्वर।

स्कन्ध—समूह।

स्तेय—चोरी।

स्थान—आसन।

स्पर्शन—स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय।

स्वाध्याय—आत्मा के विषय मे चितन।

हिसा—प्राण-वियोजन, असत्प्रवृत्ति।

विशेष शब्द

अश्विनीमुद्रा—अश्व की भाति गुदा के सकोचन और विकोचन को 'अश्विनीमुद्रा' कहा जाता है।

कपालभाति—

यह रेचन-प्रधान प्राणायाम है। इसकी क्रिया करते समय कण्ठ पर ध्यान केन्द्रित होता है और कण्ठदेश मे एक विशेप प्रकार की ध्वनि होती है। यह दस मिनट तक किया जा सकता है।

कुण्डलिनी–

नाभि मूल के निकट स्वाधिष्ठान चक्र और मणिपूर चक्र के मध्य मे एक कुण्डलाकार सर्पिणी जैसी सूक्ष्म शक्ति है, इसे कुण्डलिनी कहा गया है। इसका ध्यान बादल के बीच कौधती हुई विद्युत् रेखा के आकार मे भी किया जा सकता है। मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के स्थिर अभ्यास से यह जागृत होती है। कुछ ग्रन्थो मे इसे कमलतन्तु के समान सूक्ष्म रूपावली प्राणशक्ति कहा गया है। जैन साहित्य मे तेजोलब्धि का जो वर्णन है, वह कुण्डलिनी के वर्णन जैसा ही प्रतीत होता है।

भस्त्रिका–

दोनो नथुनो से धौकनी की भाति शब्द करते हुए श्वास लेना और छोड़ना भस्त्रिका प्राणायाम है।

समवृत्ति प्राणायाम–

एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे नथुने से उसे छोड़ना समवृत्ति प्राणायाम है।

सर्वेन्द्रिय संयममुद्रा–

दोनो अगूठे कानों मे स्थापित है। दोनो तर्जनिया मुदी हुई आखो को धीमे से दवाए हुए है और उनके अग्रभाग आख और नाक के मध्यवर्ती देश पर कुछ अधिक दबाव डाले हुए है। दोनो मध्यमाए दोनो नथुनो को बन्द किए हुए है। दोनों अनामिकाएं ऊपर के होठ पर तथा दोनो कनिष्ठाए नीचे के होठ पर टिकी हुई है। बस यही है—सर्वेन्द्रियसयममुद्रा।

६

मनोनुशासनम्-सूत्र

पहला प्रकरण

१ अथ मनोनुशासनम्॥
२. इन्द्रियसापेक्ष सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं सज्ञानं मनः॥
३. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु:-श्रोत्राणि इन्द्रियाणि॥
४. आत्ममात्रापेक्ष अतीन्द्रियम्॥
५. चेतनावद् द्रव्यं आत्मा॥
६. ज्ञानदर्शन-सहजानन्द-सत्य-वीर्याणि तत्स्वरूपम्॥
७ परमाणुसमुदयैस्तदावरणविकरणे॥
८. तत्संसर्गाऽससर्गाभ्यां आत्मा द्विविधः॥
९. बद्धो मुक्तश्च॥
१०. स्वरूपोपलब्धिर्मुक्ति॥
११. मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणा निरोधो योग.॥
१२. सवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्ति इति पर्यायाः॥
१३. शोधनं च॥
१४. समिति सत्प्रवृत्तिर्विशुद्धि इति पर्याया.॥
१५. पूर्व शोधन, ततो निरोध.॥
१६. हित-मित-सात्त्विकाहरण आहारशुद्धिः॥
१७. स्वविपयान् प्रति सम्यग्योग इन्द्रियशुद्धिः॥
१८. प्रतिसंलीनता च॥
१९. प्राणायाम-समदीर्घश्वास-कायोत्सर्गे आनापानशुद्धि॥

२०. कायोत्सर्गाद्यासन-बन्ध व्यायाम-प्राणायामैः कायशुद्धि ॥
२१. निस्संगत्वेन च ॥
२२. प्रलम्बनादाभ्यासेन वाक्शुद्धिः ॥
२३. सत्यपरत्वेन च ॥
२४. दृढ़संकल्पैकाग्रसन्निवेशनाभ्या मनः शुद्धि ॥
२५. मिथ्यादृष्टिरविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धाकर्षणहेतव ॥
२६. सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकपायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतव ॥
२७. इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणि आत्मनो लिंगम् ।

दूसरा प्रकरण

१. मूढ-विक्षिप्त-यातायात-शिलष्ट-सुलीन-निरुद्धभेदाद् मनः पोढा ॥
२. दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्तं मूढम् ॥
३. अनर्हमेतद् योगाय ॥
४. इतस्ततो विचरणशीलं विक्षिप्तम् ॥
५ कदाचिदन्तः कदाचिद् वहिर्विहारि यातायातम् ॥
६. प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ॥
७. विकल्पपूर्वक वाह्य वस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्य अल्पानन्दञ्च ॥
८. स्थिर शिलष्टम् ॥
९. सुस्थिर सुलीनम् ॥
१०. द्वयमिदं संजाताभ्यासस्य योगिनः ॥
११. वाह्य वस्तुन अग्रहणाद् दृढस्थैर्य महानन्दञ्च ॥
१२. मनोगतध्येयमेवास्य विषयः ॥
१३. निरालम्बनं केवलमात्मपरिणतं निरुद्धम् ॥
१४. इदं वीतरागस्य ॥
१५. सहजानन्दप्रादुर्भावः ॥
१६. ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥
१७. श्रद्धाप्रकर्षेण ॥
१८. शिथिलीकरणेन ॥
१९. संकल्पनिरोधेन ॥

२०. ध्यानेन च॥

२१. गुरूपदेश-प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धि ॥

तीसरा प्रकरण

१. एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्॥

२. ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम्॥

३. अल्पाहार ऊनोदरिका॥

४. दुग्धादिरसाना परिहरणं रसपरित्यागः॥

५. अशनत्याग उपवासः॥

६. शरीरस्य स्थिरत्वापादन स्थानम्॥

७. ऊर्ध्व-निषीदन-शयनभेदात् त्रिधा॥

८ समपाद-एकपाद गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम्॥

९. गोदोहिका-उत्कटुक-समपादपुता-गोनिषद्यिका-हस्तिशुण्डिका-पद्म-वीरसुख-कुक्कुट-सिद्ध-भद्र-वज्र-मत्स्येन्द्र पश्चिमोत्तान-महामुद्रा-सप्रसारण-भूनमन-कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम्॥

१०. दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व-ऊर्ध्वशयन-लकुट-मत्स्य-पवनमुक्त-भुजग-धनुरादीनि शयनस्थानम्॥

११. सर्वांग-शीर्षादीनि-विपरीतक्रियापादकानि॥

१२ वाचा संवरण मौनम्॥

१३. इन्द्रिय-कषायनिग्रहो विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता॥

१४. इन्द्रियाणां विपय-प्रचारनिरोधो विषय-प्राप्तेषु अर्थेषु राग-द्वेष-निग्रहश्च इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता॥

१५ क्रोधादीना उदय-निरोधस्तेषामुदयप्राप्तानां च विफलीकरण कषायप्रतिसलीनता॥

१६. ऐकाग्र्योपघातक-तत्त्व-रहितेषु स्थानेपु निवसन विविक्तवास॰॥

१७. आत्मान प्रत्यनुप्रेक्षा स्वाध्यायः॥

१८. चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसस्काराधान भावना।

१९. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आस्रव-संवर-

निर्जरा-धर्म-लोकसंस्थान-वोधिदुर्लभता ॥

२० मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-मध्यस्थताश्च ॥

२१. उपशमादिदृढभावनया क्रोधादीनां जय· ॥

२२ शरीर-गण-उपधि-भक्तपान-कषायाणां विसर्जन व्युत्सर्ग· ॥

२३. ध्यानाय शरीर-व्युत्सर्ग· ॥

२४ विशिष्टसाधनायै गण-व्युत्सर्गः ॥

२५. लाघवाय उपधि-व्युत्सर्ग· ॥

२६. ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्ग· ॥

२७. सहजानन्दलव्धये कषाय-व्युत्सर्ग· ॥

चौथा प्रकरण

१ स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता ॥

२ आरोग्यवान् दृढसहननो विनीतोऽकृतकलो रसाप्रतिवद्धोऽप्रमत्तोऽनलसश्च ॥

३. मुमुक्षुः सवृतश्च ॥

४. स्थिराशयत्वमस्य ॥

५. ईषदवनतकायो निमीलितनयनो गुप्तसर्वेन्द्रियग्राम· सुप्रणिहितगात्रः प्रलम्बितभुजदण्ड सुश्लिष्टचरण· पूर्वोत्तराभिमुखो ध्यायेत् ॥

६ पद्मासनादिषु निषण्णो वा ॥

७. ग्रामागार-शून्यगृह-श्मशान-गुहोपवन-पर्वत-तरुमूल-पुलिनानि ध्यानस्थलानि ॥

८ भूपीठ-शिलाकाष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि ॥

९. सालम्वन-निरालम्वनभेदाद् ध्यानं द्विधा ॥

१० पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ रूपातीतभेदादाद्यं चतुर्धा ॥

११ शारीरालम्वि पिण्डस्थम् ॥

१२. शिरो-भ्रू-तालु-मुख-नयन-श्रवण-नासाग्र-हृदय-नाभ्यादि शारीरालम्वनानि ॥

१३. धारणालम्वनं च ॥

१४ प्रेक्षा वा ॥

१५. ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धो धारणा॥
१६. पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा॥
१७. स्वाधारभूतानां स्थानानां बृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्शः॥
१८ तत्रस्थस्य निजात्मनः सर्वसामर्थ्योद्भावनं पार्थिवी॥
१६. नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेषदोषदाहचिन्तनमाग्नेयी॥
२० दग्धमलापनयनाय चिन्तनं मारुती॥
२१. महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तनं वारुणी॥
२२. श्रौतालम्बि पदस्थम्॥
२३. सस्थानालम्बि रूपस्थम्॥
२४. सर्वमलापगतज्योतिर्मयात्मालम्बि रूपातीतम्॥
२५ तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायाद् वैलक्षण्यम् ॥
२६. निर्विचारं निरालम्बनम्॥
२७. शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः॥
२८. विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा॥
२६. सतुलनं वा॥
३०. रागद्वेषाभावे चित्तस्य समत्वं सन्तुलनम्॥
३१. समत्व-विनय-श्रुत-तपश्चारित्रभेदात् स पञ्चधा॥
३२. रागद्वेष-विकल्पशून्यत्वात्, मान-विकल्पशून्यत्वात्, चित्तस्थैर्यानुभवात्, भेदविज्ञानानुभवाद्, समत्वादीनि समाधिपदवाच्यानि॥
३३. कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या॥
३४. कृष्ण-नील-कापोत-तेजः पद्म-शुक्ला॥

पांचवां प्रकरण

१ प्राणापान-समानोदानव्यानाः पच वायव.॥
२. नासाग्र-हृदय-नाभिः पादागुष्ठान्तगोचरो नीलवर्णः प्राण.॥
३. पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिग. श्यामवर्णः अपान.॥
४. सर्वसन्धि-हृदय-नाभिगः श्वेतवर्णः समान.॥
५ हृदय-कण्ठ-तालु-शिरोन्तरगो रक्तवर्ण उदान ॥
६ सर्वत्वग्वृत्तिको मेघधनुस्तुल्यवर्णो व्यान.॥

७. नासादिषु स्वस्वस्थानेपु रेचक-पूरक-कुम्भकैस्तज्जय ॥
८ यै पै वैं रौ लौं तद्ध्यानवीजानि ॥
६. जठराग्निप्रावल्य वायुज्जय· शरीरलाघवञ्च प्राणस्य लब्धय· ॥
१० व्रणसरोहण-अस्थिसन्धान-अग्निप्रावल्य-मलमूत्राल्पता व्याधिजयः अपानसमानयो ॥
११. पककण्टकवाधाऽभाव उदानस्य ॥
१२. ताप पीडाऽभाव आरोगित्वञ्च व्यानस्य ॥
१३. चन्द्रनाड्या वायुमाकृष्य पादाड्गुष्ठान्त तन्नयन क्रमशः पुनरुन्नयन पुनर्नयनञ्च मन स्थैर्याय ॥
१४. पादाड्गुष्ठतो लिड्गपर्यन्त वायुधारणेन शीघ्रगतिर्बलप्राप्तिश्च ॥
१५ नाभौ तद्धारणेन ज्वरादिनाश· ॥
१६. जठरे तद्धारणेन कायशुद्धिः ॥
१७. हृदये तद्धारणेन ज्ञानोपलव्धि ॥
१८. कूर्मनाड्यां तद्धारणेन रोगजराविनाश· ॥
१६ कण्ठकूपस्य निम्नभागे स्थिता कुण्डलिसर्पाकारा नाडी कूर्मनाडी ॥
२० कण्ठकूपे तद्धारणेन क्षुत्तृषाजय ॥
२१. जिह्वाग्रे तद्धारणेन रसज्ञानम् ॥
२२. नासाग्रे तद्धारणेन गन्धज्ञानम् ॥
२३. चक्षुषोस्तद्धारणेन रूपज्ञानम् ॥
२४. कपाले तद्धारणेन क्रोधोपशम· ॥
२५ व्रह्मरन्ध्रे तद्धारणेन अदृश्यदर्शनम् ॥
२६. आस्थावन्धो दीर्घकालासेवन नैरन्तर्य कर्मविलयश्चात्र हेतु ॥
२७ मनोनुशासनाद् अतीन्द्रियोपलव्धि ॥

छठा प्रकरण

१. सर्वथा हिसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् ॥
२ सर्वभूतेषु संयम अहिसा ॥
३. कायवाड्मनसामृजुत्वमविसवादित्वञ्च सत्यम् ॥
४ परोपरोधाकरणमस्तेयम् ॥
५. वस्तीन्द्रियमनसामुपशमौ व्रह्मचर्यम् ॥

६ बाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रह ॥

७. आलोके भोजन पानञ्च ॥

८ भूमि प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत् ॥

६ प्रतिलेखन-प्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेप कुर्यात् ॥

१०. क्रोध-लोभ-भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य आचक्षीत् ॥

११ अवग्रहानुज्ञा परिपालयेत् ॥

१२. ब्रह्मचर्य-घातिसंसर्गेन्द्रियप्रयोगे विवर्जयेत् ॥

१३. प्रियाप्रिययोर्न रज्येद् न द्विष्याद् न च देहमध्यासीत् ॥

१४ स्थूलहिसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम् ॥

१५. क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिचन्य-ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्म ॥

१६ क्रोध-निग्रह क्षमा ॥

१७ हीनानामपरिभवन मार्दवम् ॥

१८ माया-निरोध आर्जवम् ॥

१६. शौचमलुब्धता ॥

२०. सत्यम् ॥

२१ हिसादिप्रवृत्तेरुपरमण सयम ॥

२२ कर्म-निर्जरणहेतु पौरुष तप ॥

२३ सविभागकरण त्याग ॥

२४ स्वदेहे निःसगता आकिचन्यम् ॥

२५. ब्रह्मचर्यम् ॥

२६. शयनकाले सत्संकल्पकरणम् ॥

२७ ते च—ज्योतिर्मयोऽहं आनन्दमयोऽह स्वस्थोऽह निर्विकारोऽह वीर्यवानह—इत्यादय ॥

२८. निद्रामोक्षे जपो ध्यानञ्च ॥

२६ परानिष्टचिन्तनेन मनोविघात ॥

३० आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकास ॥

सातवां प्रकरण

१. तप-सत्त्व-सूत्र-एकत्व-बलभेदात् पचधा भावना प्रतिमा जिनकल्प

वा प्रतिपद्यमानस्य॥

२. तपसा क्षुधाजय.॥

३. षण्मास यावन्न वाधते क्षुधया॥

४. सत्त्वभावनया भय निद्राञ्च पराजयते॥

५ उपाश्रय-तद्वहि.-चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेष्विति स्थान-भेदात् पंचधा॥

६. रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्ग-करण प्रथमा॥

७ क्वचिदुपाश्रयाद् वहिस्तात् कायोत्सर्गकरण द्वितीया॥

८ चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरण परा:॥

६ सूत्रभावनया कालज्ञानम्॥

१० सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वास-प्राणादय. सर्वे कालभेदा अवगता स्युस्तथा सूत्रपरिचय.॥

११ एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मान भावयन् भवति निरभिष्वङ्ग:॥

१२ वलभावनया परीषहाणा जय ॥

१३. वल शारीर मानसञ्च॥

१४ तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत् वाधा॥

१५ यथाशक्ति चैता: परेषामपि॥